जीवन को पवित्र, शान्तियुक्त एवं दिव्य बनाने वाली कलायें

इन लेखों में जीवन को अपवित्र से पवित्र, लौकिक से अलौकिक, साधारण से दिव्य, विकारी से निर्विकारी, भोगी से योगी, अनियन्त्रित, अशान्त एवं चंचल से शान्त एवं एकरस बनाने के कुछेक विधि-विधानों का उल्लेख किया गया है। समय-समय पर परमपिता परमात्मा शिव ने तमोप्रधान जीवन की कमियों, बुराइयों, नकारात्मक विचारों (negative thoughts) इत्यादि से मुक्ति प्राप्त कराने के लिए, प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो अनमोल युक्तियाँ बतायीं, उन पर मनन-चिन्तन करके उन्हें विभिन्न पहलुओं से यहाँ प्रस्तुत किया गया है। स्वयं प्रजापिता ब्रह्मा के साकार जीवन में जो विशेषतायें हमने देखी थीं, उन अनगनित विशेषताओं में से केवल कुछेक अतिरिक्त विशेषताओं (additional specialities) एवं कुशलताओं का भी संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इन सभी से 'जीवन जीने की कला' (Art of Living) का बोध होता है। ये जीवन को सम्पूर्णता (perfection) तथा सफलता (fulfilment) की ओर ले जाने वाली अनमोल युक्तियाँ हैं। ये मनुष्य के विचार, आचार, व्यवहार इत्यादि को सुन्दर, आकर्षक, मनमोहक, प्रतिभाशाली तथा प्रभावशाली बनाती हैं। इस अर्थ में इन्हें इस लेखमाला में 'कला' कहा गया है क्योंकि 'कला' शब्द किसी भी वस्तु, कार्य या अभिव्यक्ति को सुन्दर, शोभनीय एवं आकर्षक बनाने की चातुरी एवं निपुणता का भी वाचक है और यहाँ वर्णित युक्तियाँ जीवन को ऐसा बनाने वाली हैं।

यों हिन्दी और संस्कृत में 'कला' शब्द के कई अर्थ हैं। आज भी इस 'कला' शब्द का लगभग 30 अर्थों में प्रयोग किया जाता है। परन्तु अधिकतर इस शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है :— (1) किसी कार्य को नियम तथा व्यवस्था के अनुसार करने की कुशलता, (2) युक्ति, ढंग, (3) तेज, (4) शोभा, छटा, निपुणता, (5) ज्योति, प्रभा, (6) भाव-अभिव्यक्ति की सुन्दर विधि— चित्र कला, मूर्ति कला, नाट्य कला, नृत्य कला इत्यादि, कारीगरी, चातुरी, हुनर। भारत के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार की कलाओं की गिनती 60 है। (7) चन्द्रमा का सोलहवाँ भाग (a digit of the moon; moon has 16 digits), (8) भाग, अंश इत्यादि।

उपरोक्त अर्थों में से कुछेक में परस्पर ऐसा साम्य है कि हम इन सारे अर्थों के तीन विभाग (groups) बना सकते हैं। वे हैं— (1) किसी भी कार्य को नियम, व्यवस्था, प्रतिभा या निपुणता से करने की कुशलता अथवा विधि। ऊपर जो अर्थ दिये गये हैं, उनमें से पहले पाँच अर्थ इसी के अन्तर्गत आते हैं। (2) भावाभिव्यक्ति की सुन्दर एवं कुशल विधि। इसमें चित्र कला, नृत्य कला इत्यादि शामिल हैं। ऊपर लिखा 6वाँ नम्बर इसके अन्तर्गत है। (3) चन्द्रमा के 16 भागों में से एक भाग अथवा एक अंश। चन्द्रमा पूर्णमासी तक एक-एक अंश में जो प्रतिदिन बढ़ता है और फिर अमावस्या तक उसकी प्रभा का एक-एक भाग कम होता है, उसके अनुसार जीवन में ज्योति, प्रभा, गुण, निपुणता इत्यादि जितने अंश (degrees of digits) बढ़ें, उन्हें उतनी कलावृद्धि और जितने अंश कम हों, उन्हें उतना 'कलाक्षय' (waxing and waning) कहा जायेगा। उपरोक्त 7वाँ और 8वाँ नम्बर इसके अन्तर्गत आते हैं।

हमने इस लेखमाला में 'कला' शब्द का मुख्य प्रयोग प्रथम अर्थ-विभाग की दृष्टि से किया है। उसमें गौण रूप से अथवा अलौकिक एवं अप्रत्यक्ष (indirectly) रूप से दूसरा अर्थ-विभाग भी आ ही जाता है क्योंकि हमारे व्यवहार तथा भावाभिव्यक्ति में इतनी निपुणता और प्रतिभा आती जाती है कि हमारा हरेक कर्म— बोल-चाल, रहन-सहन इत्यादि— कलात्मक, शोभनीय एवं प्रभावशाली हो जाता है। इस पुरुषार्थ के फलस्वरूप हम आत्माओं की ज्योति, प्रभा और पवित्रता बढ़ते-बढ़ते ऐसी एवं इतनी हो जाती है कि जैसे चन्द्रमा पूर्णमासी के दिन ''16 कला सम्पूर्ण'' होता है, वैसे ही हमारी दिव्यता भी 16 कला सम्पूर्ण अर्थात् सम्पूर्ण तेजोमय हो जाती है। श्रीकृष्ण को ''सोलह कला सम्पूर्ण'' तथा श्रीराम को ''चौदह कला सम्पूर्ण'' इसी अर्थ में कहा जाता है कि उन्होंने पूर्वकाल में इनके अभ्यास से यह स्थिति प्राप्त की थी। श्रीकृष्ण का जीवन पुरुषार्थी जीवन नहीं था बल्कि प्राप्ति अथवा प्रालब्ध वाला जीवन था। वे श्रीकृष्ण अर्थात् नारायण बनने से पहले पुरुषार्थी जीवन में नर थे। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण में

दिव्यगुणों की पूर्ण पराकाष्ठा थी और श्रीराम में केवल 14 कला थीं। परन्तु कई भक्त लोग श्रीकृष्ण को नृत्य कला, वाद्य कला इत्यादि कलाओं (arts) से युक्त होने के कारण उसे ''16 कला सम्पूर्ण'' मानते हैं जो कि ग़लत है। श्रीकृष्ण में तो सभी दिव्यगुणों का पूर्ण विकास (full digrees or full digits) हो चुका था। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण पूर्णतः विकसित थे; उनकी आभा-प्रभा 16 कला वाले चन्द्रमा के जैसी थी। परन्तु जैसे कि बताया है, हमने इस लेखमाला में तो उन युक्तियों ही का उल्लेख किया है जिनसे कि नर 'श्री नारायण' बन सकता और नारी 'श्री लक्ष्मी' बन सकती है अर्थात् वे इनके फलस्वरूप 16 कला सम्पूर्ण बन सकते हैं।

इनका स्वयं अभ्यास करने के फलस्वरूप हमें जो अनुभव है, उसके आधार पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इनका अभ्यास करने से निश्चय ही मन निर्मल, विचार सकारात्मक, निर्णय स्पष्ट, चित्त एकाग्र तथा कुशाग्र, बुद्धि ऋतम्भरा, स्थिति स्थिर, जीवन दिव्यगुणों से सुगन्धित और व्यवहार श्रेष्ठ हो जायेगा।

— ब्रह्माकुमार जगदीश चन्द्र

जीवन की सोलह कलायें

किसी भी कार्य को करने का एक समय और ढंग होता है। पुनश्च,उस कार्य को यथोचित स्थान पर और अनुकूल अवसर पर एक व्यवस्थित रूप से करने के लिए भी एक विशेष सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हरेक कार्य को करना भी एक कला है। जैसे कोई कलाकार एक सूझ से काम करना जानता है, कौन-सा रंग कहाँ लगाना है, आँख, कान आदि को किस ढंग से बनाना है और किस व्यवस्था से सभी दृश्यों व हाव-भावों को किस प्रकार दिखाना है, ये रंग-ढंग, व्यवस्था और रूप-रेखा उसकी कला में शामिल हैं। इसी प्रकार जीवन भी एक कला है।

सभी जानते हैं कि किस प्रकार दोनों ओर लगी हुई बाँसों के बीच रस्सी बाँधकर नट उस रस्सी पर चढ़कर अपनी कला दिखाता है। उसका झुकाव रस्सी के न इस ओर अधिक होता है और न उस ओर, बल्कि वह अपना सन्तुलन कायम रखता है। यदि वह सन्तुलन न रखे तो उसका पतन हो जायेगा और वह चकनाचूर हो जायेगा और यदि वह कर्त्तव्य न दिखाये अथवा कोई करिश्मा न करे तो वह 'नट' भी नहीं कहलायेगा और अपनी आजीविका का साधन भी नहीं बना पायेगा। ठीक इसी प्रकार, यह जीवन भी एक कला है। मनुष्य अपने बाल-बच्चों के बीच रहे और उनसे उसका स्नेह भी हो परन्तु मोह न हो, वह धन कमाये परन्तु उसमें लोभ न हो, वह घर-गृहस्थ को चलाये परन्तु उसमें उसकी आसक्ति न हो इसके लिए भी एक सुन्दर रूप-रेखा, कर्त्तव्य निभाने का एक अच्छा रंग-ढंग, घर-बार की एक सुन्दर व्यवस्था और योजना होती है। इसलिए जीवन को भी एक 'कला' कहा जाता है।

मनुष्य के कार्य-व्यवहार को सुन्दर बनाने और जीवन को एक रंग-ढंग से चलाने वाला विज्ञान वास्तव में योग ही है। इसलिए योग को 'जीवन-कला' माना गया है अर्थात् मनुष्य जीये तो कैसे जीये, कार्य करे तो कैसे करे, इसकी सूझ योग रूपी विज्ञान ही देता है। देखा गया है कि जीवन को सफल अथवा श्रेष्ठ बनाने के लिए मुख्य रूप से सोलह कलायें हैं। योग, मनुष्य को इन सोलह कलाओं से सम्पन्न बनाता है। वे सोलह कलायें कौन-कौन-सी हैं और योग मनुष्य को उन कलाओं में प्रवीण कैसे बनाता है, अब इसका उल्लेख करेंगे।

1. सर्व को मित्र बनाने की कला

(The Art of Winning Friends)

दूसरों को मित्र बनाने की कला एक बहुत बड़ी कला है। बहुत-से लोग अपनी किसी-न-किसी कमी के कारण लोगों को शत्रु बना बैठते हैं और उसके परिणामस्वरूप मानसिक अशान्ति और दूसरों की दुश्मनी मोल ले लेते हैं। अब दूसरों को मित्र बनाने के लिए मनुष्य में मुख्य नौ बातों का होना आवश्यक है— (1) दूसरों के प्रति शुद्ध प्रेम (2) मिलनसार स्वभाव और स्वयं को ढालने की योग्यता (The quality of mixing and moulding) (3) सरल स्वभाव अथवा मन की सच्चाई और सफ़ाई (4) पवित्र और उच्च जीवन (5) शान्त स्वभाव, मधुरता और मान्यता का गुण (6) निकट सम्पर्क में आने का गुण (7) दूसरों की सेवा और सहायता के लिए सदा तैयार (8) दूसरों की कटु आलोचना न करना और उन पर अट्टहास न करना तथा उन्हें उचित सम्मान और प्रशंसा देना और उनकी बातों को अपने मन तक रखना (9) दूसरों के लिए अपनी सुख-सुविधा का भी त्याग करने के लिए उद्यत हो जाना।

अब यह तो सभी मानेंगे ही कि प्रेम ही शत्रु को मित्र बनाने के लिए एक मंत्र का काम करता है अथवा एक मनुष्य के मन को दूसरे मनुष्य के मन से स्वेच्छापूर्वक बाँधने के लिए सूत्र का काम करता है परन्तु मनुष्य में सच्चा और शुद्ध प्रेम तभी जागृत होता है जब वह देह और देह के स्वजन और सर्वस्व के ममत्व से ऊँचा उठकर प्रेम के सागर परमात्मा की प्रेमधारा से परिप्लावित होता है और स्वयं को प्रेमस्वरूप परमात्मा की सन्तान निश्चय करके प्रेमविभोर होकर दूसरों से मिलता-जुलता है। परन्तु परमात्मा से प्रेम करना और परमात्मा की सन्तान अर्थात् आत्माओं से भी

प्रेम करना, यह योग का ही तो एक अंग है। इसी प्रकार, दूसरों के साथ घुलमिल जाना भी तभी सम्भव होता है जब मनुष्य दूसरों के अवगुणों को न देख उसके गुणों को देखे और उनसे प्यार करे और उनसे ''आत्मा-आत्मा, भाई-भाई'' का नाता माने। पुनश्च, दूसरों से मेल-जोल कायम रखना तभी सम्भव होता है जब मनुष्य सदा अपने ही विचार को हठ-पूर्वक मनवाने वाला न हो और वह दूसरों की भी राय को उचित मान्यता दे तथा निराभिमानता-पूर्वक उनसे व्यवहार करे। ये सभी बातें तो योग द्वारा ही सम्भव होती हैं। योग द्वारा ही मनुष्य आपस में एकमत होते हैं। 'योग' का अर्थ ही है, मेल-मिलाप अथवा मिलकर एकीभाव को प्राप्त होना। फिर जो मन की सरलता और सच्चाई-सफ़ाई का गुण है, जो कि मित्रता में दृढ़ता लाने के लिए आवश्यक है, वह भी तो योगी में ही होता है। भोगी अथवा जिसमें काम, लोभ, स्वार्थ आदि वासनायें भरी हों उसके मन में सफ़ाई और सच्चाई कहाँ? और, जहाँ सच्चाई नहीं वहाँ सच्ची मित्रता कैसे?

इसके अतिरिक्त, मनुष्य के जीवन में पवित्रता और उसका शान्त स्वभाव ही तो उसे आकर्षणमूर्त बनाता है लेकिन शान्ति और पवित्रता भी मनुष्य के जीवन में तभी आती है जब वह शान्त स्वरूप परमात्मा की स्मृति में स्थित होता है और योग द्वारा अपने अपवित्र संस्कारों को धोता है। इसी प्रकार दूसरों को मित्र बनाने के लिए अन्य जिन आवश्यक योग्यताओं का उल्लेख किया गया है, वे भी योग द्वारा ही मनुष्य के जीवन में धारण होती हैं। योग ही मनुष्य में सच्चा सेवा-भाव, दूसरों के लिए त्याग आदि-आदि की भावनायें पैदा करता है। 'सहयोग' शब्द योग शब्द ही से तो बना है और योग-स्थित मनुष्य ही तो अपने जीवन का दूसरों के लिए प्रयोग भी करता है।

2. व्यवहार कला अथवा लोकरंजन कला

(The Art of Dealing with Others or Pleasing Others)

मनुष्य का जीवन वास्तव में ऐसा होना चाहिये कि वह दूसरों को चन्दन की भाँति शीतलता देने वाला हो, गुलाब की भाँति सुगन्धि देने वाला हो और मधु के समान मीठा अथवा प्रिय लगने वाला हो तथा फल के समान रस देने वाला हो। परन्तु अपने व्यवहार को ऐसा सुन्दर और कुशल बनाना, जिससे कि लोग सन्तुष्ट और प्रसन्न हों, यह भी एक कला है। परन्तु मनुष्य अपने जीवन द्वारा लोकरंजन अथवा जन-तुष्टि तभी कर सकता है जब उसमें मुख्य रूप से ये छः बातें हों— (1) दूसरों के जीवन को भी अनमोल समझना और उनके जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा न करके उन्हें संभालने, आदर देने, आश्रय देने, सुख देने आदि की पूरी कोशिश करना (2) दूसरों के भाव और स्वभाव दोनों को समझकर अर्थात् उनके संस्कार और परिस्थिति को जानकर उनके प्रति सहानुभूति, सौजन्य, सद्भावना और स्नेह की प्रवृत्ति करना (3) सदा यह लक्ष्य अपने सामने रखना कि वह दूसरों पर किसी भी प्रकार बोझ न बने और उनसे विशेष सेवा न ले (4) इस बात को याद रखना कि यदि दूसरों को दुःख दूँगा तो दुःखी होकर मरूँगा (5) सबका शुभ-चिन्तक बनकर रहना (6) अपना कर्त्तव्य पालन करना तथा उत्तरदायित्व निभाना।

अब देखा जाये तो जब कोई मनुष्य महसूस करता है कि दूसरा व्यक्ति उसकी सुख-सुविधा का भी कुछ ख़्याल करता है, उसमें थोड़ी-बहुत योग्यता भी मानता है, उसके जीवन का भी कोई मूल्य तथा आदर समझता है तो उस व्यक्ति के प्रति उसकी सहृदयता हो जाती है। परन्तु दूसरों के जीवन को भी अनमोल वही मानेगा जो योग द्वारा सच्चे सुख की कमाई करके, अनुभव के आधार पर जानता होगा कि वास्तव में दूसरों का जीवन भी कितना अनमोल है या अनमोल बन सकता है। जैसे, सहोदर भाई अपने भाई को ऊँचा बनाने की सदा चेष्टा करता है, वैसे ही परमात्मा को पिता के रूप में याद रखने वाला, सच्चा योगी ही तो आत्माओं रूपी भाइयों के जीवन को भी ऊँचा बनाने की चेष्टा करेगा। योगी ही तो शुभ सोचता और शुभ करता है; इसलिए वह ही तो सही रूप में दूसरों का शुभ-चिन्तक हो सकता है। रहमदिल अथवा दयालु भगवन् के साथ नाता जुटा होने के कारण वह ही तो दूसरों के संस्कारों तथा परिस्थितियों को समझते हुए उनके प्रति सहानुभूति की भावना रख सकता है। अतः निश्चय ही योग ही एकमात्र ऐसी कला है जिस द्वारा मनुष्य का जीवन लोकरंजन अथवा जन-मन को सन्तुष्ट करने वाला अर्थात् लोक पसन्द बन सकता है।

3. परिवर्तन और परिवर्द्धन लाने की कला

(The Art of Reforming, Refreshing and Developing)

बहुत-से मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने जीवन में परिवर्तन लाना नहीं जानते। उन्हें अपने संस्कारों को बदलने की कला नहीं आती। चाहते हुए भी वे अपने स्वभाव को नहीं बदल पाते और इसलिए वे परेशानियों से घिर जाते हैं। परन्तु योग ही एक ऐसी कला है जिसके द्वारा मनुष्य के जीवन की चढ़ती कला हो जाती है। योगी के सामने जीवन का एक लक्ष्य सदा स्पष्ट रूप में रहता है; इसलिए वह उस लक्ष्य से प्रेरित होकर वैसे लक्षण भी धारण करता है। उसे जीवन की मंज़िल और मार्ग की स्मृति रहती है। इसलिए उसके कदम-कदम में परिवर्तन, प्रगति और पदमों की कमाई होती है। उसकी मन रूपी आँख के सामने फ़रिश्ते की सूरत अथवा श्रीनारायण की मूरत घूमती रहती है, इसलिए वह वैसी ही सीरत बनाने के पुरुषार्थ में लगा रहता है और उसमें एक दिन सफल होता है, क्योंकि कहावत भी है कि 'मनुष्य के मन में जैसा चित्र रहता है वैसा ही उसका चरित्र बनता है' (As you think so shall you become)।

योगी सदा यह याद रखता है कि मैं 'ला मेकर' (Law-maker) अर्थात् विधायक तथा 'पीस मेकर (Peace-maker) अर्थात् शान्ति स्थापक परमात्मा की सन्तान हूँ। इसलिए, मुझे 'ला ब्रेकर' (Law-breaker) अर्थात् 'कानून-तोड़' का काम नहीं करना है और न ही मुझे शान्ति भंग करनी है। बल्कि वह स्वयं को एक शान्तिदूत मानकर आचरण करता है, इसलिए वह माया के वशीभूत नहीं होता। उसे इस बात का ध्यान रहता है कि ''मैं ईश्वरीय कुल का हूँ इसलिए मुझे कोई आसुरी कर्त्तव्य नहीं करना है।'' जो मनुष्य योगी नहीं है उसके सामने न तो फ़रिश्ता या देव-तुल्य बनने का लक्ष्य है, न ईश्वरीय विधि-विधान के अनुसार तथा नियम और कायदे के अनुकूल कार्य करने की चेष्टा है। तब भला वह अपने जीवन में परिवर्तन कैसे ला सकता है? वह तो काम, क्रोध आदि से विकृत संस्कारों के वशीभूत होकर रहता है और दिनोंदिन पतन की ओर ही जाता है। उसके मन में योगी के समान सच्ची और स्थायी शान्ति ही नहीं होती। इसीलिए वह दूसरों को रिफ्रेश (Refresh; तरोताज़ा) भी नहीं कर सकता। उसके जीवन में नवीनता ही नहीं आती बल्कि वह पुरानी ही परिपाटी पर चलता है। इसलिए वह दूसरों में भी ख़ुशी, उमंग और तरंग नहीं ला सकता और उनके जीवन को नहीं मोड़ सकता। जिसके जीवन में इन्कलाब (परिवर्तन) नहीं वह दूसरों को ज़िन्दाबाद भी नहीं कर सकता।

दूसरों के जीवन में परिवर्तन वह ला सकता है जिसमें मुख्य रूप से छः बातें हों— (1) दूसरों की ख़ूबियों को देखना और उन ख़ूबियों पर खड़ा करके उन्हें अच्छे कामों में लगाना और अच्छाई में प्रवृत्त करके उनकी बुराई निकालते जाना (2) उन्हें अपने साथ मिला लेना; प्रेम से अपना बना लेना और स्वयं में उनका विश्वास

बिठाकर, उन्हें स्नेह देकर, उनके अवगुण को मैत्री भाव से हर लेना (3) उन्हें अपने से आगे रखना (4) उनके कार्य की यथोचित सराहना करके, 'वाह-वाह' करके उन्हें हिम्मत दिलाना और आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना। (5) अपने ऊँचे विवेक द्वारा विवेकयुक्त रीति (In a convincing manner) से उनकी विचारधारा को पलटना (6) अपने हरेक कार्य में अलौकिकता के द्वारा उन्हें अलौकिक बनाना।

हमने अपने इस आधुनिक जीवन में पिताश्री अर्थात् प्रजापिता ब्रह्मा जी के जीवन में इन सभी विशेषताओं को देखा और अनुभव किया है। यों तो इस कलियुगी संसार के हरेक नर-नार के जीवन में सावन की अँधेरी रात के काले बादलों की कालिमा है परन्तु उस कालिमा में भी बिजली की कोई-कोई रेखा भी है अवश्य। पिताश्री हरेक के जीवन में गुण को ध्यान में रखकर किस प्रकार हरेक के जीवन को योगयुक्त बनाने में लग जाते, यह देखते ही बनता था। फिर उसकी थोड़ी ही सफलता पर वे उसे प्रोत्साहित करके उसे आगे बढ़ाने में लग जाते, बल्कि यहाँ तक भी कह देते कि 'अमुक बात में यह मुझ से भी आगे है।' इस प्रकार अपने स्नेह के आधार पर वे सद्भावना की युक्ति से दूसरों के जीवन में शीघ्र ही परिवर्तन लाने की कला में निष्णात थे क्योंकि वे स्वयं योग की कला से युक्त थे।

जो मनुष्य योगी न हो वह तो दूसरों को भी अपने कुसंग से कुमार्ग पर ही लगाने का निमित्त बन सकता है। वह न मनुष्यात्माओं में परिवर्तन ला सकता है और न ही योगयुक्तों की संख्या में परिवर्द्धन कर सकता है।

***

4. मन को मुदित अवस्था में रखने की कला

(The Art of Keeping Happy and Contented)

स्वयं को सदा प्रसन्नचित्त अवस्था में रखना भी एक बहुत बड़ी कला का परिचायक है। कुछ गिने-चुने मनुष्य ही हर परिस्थिति में स्वयं को सन्तुष्ट रख पाते हैं। किसी ने थोड़ा-सा अवाञ्छित व्यवहार किया तो हम रुष्ट हो गये, किसी इच्छित वस्तु की कमी रही तो हम असन्तुष्ट हो उठे, किसी ने भूल-चूक से कोई अशिष्ट शब्द कह दिया तो हमारा 'मूड' (Mood) बिगड़ गया, कोई अप्रिय घटना घट गयी तो हम दुःखी मनसा से उलटने-पलटने लगे, प्रायः हरेक मानव ऐसा ही करता है। परन्तु योग ही एक ऐसी कला है जिसको कुशलता से अपनाने पर मनुष्य रोग में, किसी मित्र की मृत्यु होने पर, व्यापार में कोई हानि होने पर अथवा अन्य किसी ऐसी-वैसी परिस्थिति में भी अडोल तथा हर्षित अवस्था में रहता है। इसलिए योगी के बारे में ही कहा जाता है कि वह निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि-आदि में एकरस अवस्था में रहता है।

जो मनुष्य अपने जीवन में ख़ुश नहीं रहता अथवा अधिक दिन दुःखी और केवल थोड़े ही दिन ख़ुश रहता है, भला उसका जीवन किस काम का? उसका जीवन तो उसके लिए ही मानो एक बोझ है, जिसे वह एक टट्टू जानवर बनकर ढोता रहता है। जैसे, किसी गदहे के ऊपर अशर्फ़ियों की गठरी लाद दी जाये और वह गदहा उनका मूल्य न जानने और उनका प्रयोग न कर सकने के कारण उन्हें भार रूप से, वाहन बनकर ढोता है। ऐसा ही हाल उस मनुष्य का भी है जो जीवन रूपी अनमोल निधि से अतुल आनन्द प्राप्ति करने की बजाय गिरता पड़ता उसे कब्र तक ले जाता है।

देखा जाये तो अपने मन को मुदित अवस्था में रखने के लिए अथवा सदा प्रसन्नवदन बनने के लिए मनुष्य में मुख्य रूप से छः बातों का होना आवश्यक है— (1) ज्ञानयुक्त दृष्टिकोण (2) दूसरों को न देख सदा अपनी अवस्था सम्भालना और विकट परिस्थिति में भी अपनी स्थिति को ठीक बनाये रखने का लक्ष्य (3) अपकारी के प्रति भी उपकार की भावना बनाये रखना (4) इस संसार को एक पूर्वनिश्चित नाटक मानकर उसमें होने वाले हरेक वृत्तान्त को 'भावी' अथवा 'होनी' अथवा 'अपने ही पूर्व कर्मों का फल' जानकर कर्म-खाता चुकता मानना (5) साक्षी अवस्था धारण करना (6) इस संसार को विविधतापूर्ण एक वृक्ष (Variety Tree) तथा इसकी सतो, रजो एवं तमो अवस्थायें जानकर विपरीत विचार वाले लोगों के प्रति घृणा न करना।

स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य का ज्ञानयुक्त दृष्टिकोण (Right Attitude) न हो तब तक वह ख़ुश नहीं रह सकता। अब योगी ही अपनी योग कला के आधार पर सम्यक् दृष्टिकोण रख सकता है। शारीरिक रोग हो जाये तो वह समझता है कि 'चलो, पूर्व कर्मों का बोझ हल्का हुआ', किसी मित्र की मृत्यु हो जाये तो वह कहता है कि 'इस ड्रामा में उसका पार्ट पूरा हो गया', व्यापार में हानि हो जाये तो वह स्वयं को समझाता है कि 'प्रारब्ध-कर्म के अनुसार जो होना था वही हुआ है।' कोई अपमान सूचक शब्द कहे तो भी वह अपनी ही अवस्था को सम्भालता है, जैसे कि कहावत भी है कि ''तू अपनी सम्भाल तुझे और से क्या, तू गठरी सम्भाल तुझे चोर से क्या?'' तो स्पष्ट है कि योग द्वारा ही मनुष्य इस कला में कुशल सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

5. संगठन कला, नेतृत्व कला और प्रशासन कला
(The Art of Organising, Leadership and Administration)

मनुष्य के जीवन की सफलता इसमें भी है कि वह कोई ऊँचा कार्य करे, कोई विशेष बात करके दिखाये। उसके लिए ज़रूरी यह होता है कि मनुष्य दूसरों को भी सहयोगी बनाये, उन्हें गठित करे। परन्तु बहुत-से मनुष्य अपने जीवन में कोई ऐसा महान् कर्त्तव्य कर नहीं पाते। उनमें कुछ विचार तो होते हैं परन्तु वे उन विचारों को क्रियान्विति का रूप नहीं दे सकते। अब विचार करने पर आप इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि इस क्षेत्र में सफलता के लिए मनुष्य में मुख्य रूप से छः बातों का होना आवश्यक है— (1) दूसरों को एक सुन्दर योजना देकर सहयोगी और साथी बनाने की योग्यता (2) उनमें उत्साह भरने की योग्यता और स्वयं में भी सदा उत्साह और प्रबल प्रेरणा (Insight and Intuition) का होना (3) तत्क्षण निर्णय कर सकना अर्थात् 'क्विक सिलवर' बुद्धि का होना तथा दूरन्देश होना (4) सबको मिलाने की योग्यता (5) व्यवस्था करने व कण्ट्रोल करने की योग्यता (6) सभी की बातों को अपने मन में समाने की योग्यता और उन्हें यथा-योग्य, यथा-शक्ति नये-नये प्रयास में लगाना।

अब एक चरित्रात्मक आन्दोलन अथवा जनकल्याण के कार्य में प्रबल अन्तःप्रेरणा (Intuition) और उसके लिए अदम्य उत्साह (Indomitable Spirit) उसी में ही हो सकता है जिसकी बुद्धि की लग्न कल्याणकारी प्रभु से हो। परमात्मा ही तो अथक और शक्तिशाली कल्याणकर्त्ता हैं। अतः उन्हीं से मन का नेह होने से ही मनुष्य में दूसरों के उत्थान के लिए अपार साहस, अटूट लगन (Dedication) और बिजली-जैसी स्फूर्ति हो सकती है। परमात्मा का सन्देश-वाहक बनने वाला मनुष्य ही सतत् कार्यशील (Alert) और जागरूक (Active) रह सकता है और जनता की सेवा में जी-जान लगाकर कृत्कार्य हो सकता है। योगी का परमात्मा में सम्पूर्ण निश्चय होता है और उस त्रिकालदर्शी के वरदान द्वारा वह दूरदर्शी भी होता है। इसलिए उसे अच्छे काम के लिए पहल करने (Initiative) में कोई संकोच नहीं होता और यही तो नेतृत्व के लिए ज़रूरी भी होता है। परम बुद्धिमान परमात्मा के साथ बुद्धि का योग होने से उसे सुन्दर-सुन्दर योजनायें सूझती हैं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए उसे

मार्ग-प्रदर्शना भी मिलती है, वह दूसरों को भी मार्गदर्शन दे सकता है। इस प्रकार योग द्वारा ही नेतृत्व कला का विकास होता है और मनुष्य अधिकाधिक लोगों को सहयोगी और साथी बनाकर उन्हें एक प्रेममय व्यवस्था में बाँधकर, दिव्य धारणा के नियन्त्रण में लाकर उनसे भी ऊँचा कर्त्तव्य करा डालता है और स्वयं भी कोई महान् कार्य कर गुज़रता है।

जो योगी न हो वह तो अपनी मनमत पर ही चलेगा, कल्याणकारी परमात्मा का सन्देश, आदेश, निर्देश तो उसे प्राप्त ही नहीं होगा, तब भला वह दूसरों का कल्याण कैसे कर सकेगा? मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों का सामना करने के लिए जो असाधारण साहस, चातुर्य, सामर्थ्य, सूझ और युक्ति-कौशल्य चाहिये वह उसमें कहाँ से आयेगा? जब उसका अपना जीवन ही इतना आगे नहीं बढ़ रहा होगा तो वह दूसरों की अगवाई (Lead) कैसे करेगा? निश्चय ही वह संसार में आध्यात्मिक क्रान्ति लाने वाले अथवा युग-परिवर्तन करने वाले किसी अहिंसात्मक आन्दोलन का कुशल नेता नहीं बन सकता, चरित्र की सुगन्धि से भरे मानवी पुष्पों को एक माला में पिरोने अथवा व्यवस्थित करने का महान् कार्य वह नहीं कर सकता, हतोत्साहित एवं विकारों के प्रहारों से निष्प्राण हुए मानव मस्तिष्क में वह नयी रूह नहीं फूँक सकता, एक ओजस्वी एवं निर्मल ज्ञानधारा को प्रवाहित करने में वह भगीरथ का काम नहीं कर सकता। उसका उच्छृङ्खल मन अथवा संसारिक मस्तिष्क इस संसार में हलचल मचाने वाली अथवा कल-कल करने वाली कोई कल, कोई कील, कोई काँटा अथवा कोई कृत्रिम साधन बना डाले सो बात अलग है।

***

6. सीखने और सिखाने की कला
(The Art of Learning and Teaching)

वास्तव में मनुष्य जीवन-भर एक विद्यार्थी है परन्तु गिनती-भर लोग होंगे जो जीवन-भर कुछ-न-कुछ सीखने का लक्ष्य अपने सामने रखते होंगे। बहुत लोगों के सीखने की गति अत्यन्त मन्द होती है क्योंकि वे अपनी अल्पविद्या के अभिमान में चूर होते हैं अथवा अधिकाधिक सीखकर आगे बढ़ने का शौक उन्हें नहीं होता, उनका जीवन विकास की ओर नहीं, ह्रास की ओर जाता है, जीवन को भोगने में लगे हुए ऐसे भोगी लोग एक दिन स्वयं ही भोगे जाते हैं।

इसी प्रकार, मनुष्य जाने-अनजाने दूसरों को कुछ-न-कुछ सिखाता भी रहता है। मनुष्य जब घर में अपनी पत्नी से क्रोध करता है और उस पर हाथ उठाता है तब क्या उसके घर के नन्हें-मुन्ने बच्चे उसकी इस हरकत को नहीं सीखते? क्या वे कोमल-कोमल कलियाँ उसके इस रंग को नहीं पकड़तीं? इसी प्रकार, मनुष्य नहीं जानता परन्तु यह सत्य बात है कि उसकी चाल को, उसकी पोशाक को, उसकी हर बात को, उसके व्यवहार और आचार को उसके आसपास के लोग देखते और उससे प्रभावित होते हैं और अनजाने से सीखते भी हैं। इतना ही नहीं उसके हर हाव-भाव का प्रभाव समूचे विश्व के वातावरण पर पड़ता है क्योंकि यह एक वैज्ञानिक नियम है कि प्रत्येक क्षीण क्रिया की भी एक प्रतिक्रिया होती है और वह प्रतिक्रिया एक क्रिया का रूप धारण करके एक अन्य प्रतिक्रिया को जन्म देती है और इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का एक अनन्त, यद्यपि अदृश्य सिलसिला शुरू हो जाता है जोकि सारे संसार में तरंगों के रूप में संचारित और प्रसारित होकर कण-कण पर और हर मन पर, चाहे अत्यन्त अमाप्य ही सही, प्रभाव अवश्य डालता है। योगी कर्म की इस गहन गति को जानते हुए अपने कर्म के बारे में सतर्क, सचेत, उद्बुद्ध रहता है ताकि उसके किसी अमर्यादित या ग़लत कार्य से कोई उल्टी प्रेरणा न ले ले और उनके पतन का दोष कहीं उसके सिर पर न चढ़े। दूसरे शब्दों में यों कहें कि वह सदा लोक-संग्रह का ख्याल रखता है।

विचार करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि सीखने और सिखाने की कला के लिए मुख्य रूप से छः बातों का होना आवश्यक है— (1) गुणग्राहक वृत्ति (2) निरहंकारिता (3) सीखने की उत्कट इच्छा और यह भावना कि अभी मुझे बहुत सीखने की आवश्यकता है (4) दूसरों को सिखाने के लिए एक तो मनुष्य में ऊँच-नीच की भावना नहीं होनी चाहिये (5) उसमें दूसरों को परखने की शक्ति होनी चाहिये (6) उन्हें जिस बात की शिक्षा देनी है वह बात प्रैक्टिकल करके दिखानी चाहिये और उन्हें निश्चय कराने की क्षमता होनी चाहिये एवं उनसे स्नेह तथा उन्हें अपने समान अथवा अपने से भी ऊँचा बनाने की भावना होनी चाहिये और उस कार्य के लिए मनोबल (Will Power) होना चाहिये।

अब यह समझना तो सहज ही है कि गुणग्राहक वृत्ति और निरहंकारिता उस ही में हो सकती है जो प्रभु के गुणों का मनन-चिन्तन करता हो और देह को भूलकर आत्मिक स्थिति में रहता हो। सदा सीखने की उत्कट इच्छा और विद्या की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न भी उस ही में हो सकता है जिसका गुरु व शिक्षक परमपिता परमात्मा हो, जो अतीव विनम्र हो, मधुर हो और दूसरों का ज्ञान ख़ज़ाना प्राप्त करने में चतुर हो। परन्तु उसकी यह इच्छा और यह प्रयत्न सफल तभी हो सकता है जब वह उस शिक्षा को अपने जीवन में धारण करने वाला हो और यह धारणा तो योग ही का एक अंग है, धारणा वाली बुद्धि भी योग ही से बनती है।

दूसरों के प्रति शुभभाव, उनसे स्नेह, उनको पढ़ाकर अपने से भी ऊँचा बनाने की ईर्ष्या-रहित भावना, उनकी कमियों को घृणा-रहित भाव से दूर करने के लिए अपार मनोबल, ये सब भी 'योग कला' द्वारा ही मनुष्य को सिद्ध होते हैं। यदि मनुष्य में दूसरों को विद्या-प्रवीण बनाने के लिए अटूट मनोबल न हो तो वह उन्हें पूरी रीति सिखा नहीं पायेगा। यदि वह उनके सामर्थ्य का पारखी न हो तो भी वह उन्हें पूरी तरह से लाभान्वित नहीं कर सकता।

यदि वह स्नेह से उनके हृदय को जीतने के बजाय उन्हें डाँटता-डपटता और कोसता रहे तो भी वह अपने शाप-तुल्य व्यवहार से उनकी बुद्धि को कुंठित कर डालता है। परन्तु दूसरों को ज्ञान देने की उदार भावना, उनके प्रति स्नेह और अनुग्रह की दृष्टि और सीखने वालों के प्रति आदर— ये जो अनमोल रत्न हैं, योग द्वारा ही मनुष्य को उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार, जिस मनुष्य के मन में ये भाव ही न हो कि अभी सीखने के लिए काफ़ी गुंजाइश है और जो अपने से बड़े व्यक्तियों का आदर न करता हो, सेवा-भाव से, निरहंकारिता से, सरल मनसा से और मधुरता से विद्या-धन लेने की युक्ति से रहित हो, वह मनहूस विद्या प्राप्ति का सौभाग्य कैसे प्राप्त कर सकता है और यह युक्ति बिना योग के कैसे प्राप्त हो सकती है?

***

7. कार्य करने और कार्य से निवृत्त होने की कला
(The Art of Enjoying work and Leisure)

आपने देखा होगा कि बहुत-से मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो मामूली-सा कार्य होने पर भी अति व्यस्त और भारी हुए-से दिखायी देते हैं। बहुत कम ही लोग ऐसे होते हैं जो कार्य होने के बावजूद भी फ़ारिग़ मालूम होते हैं और निश्चिन्त तथा कार्य से निवृत्त दिखायी पड़ते हैं। पुनश्च, प्रायः मनुष्य जब किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो वे उसमें इतने लिपायमान हो जाते हैं कि फिर उनके लिए उपराम होना भी मुश्किल हो जाता है। जैसे कोई मक्खी शहद में मुँह डालने के अतिरिक्त टाँगें भी डाल दे और फिर उसी शहद से चिपक कर वहीं प्राण छोड़ देती है। ऐसे कम ही लोग होते हैं जो स्वेच्छानुसार अभी-अभी प्रवृत्त होना और अभी-अभी निवृत्त होना (The Art of Attachment and Detachment) जानते हैं। वे कार्य को पूरे उत्तरायित्व से करते हैं परन्तु लगता ऐसे है जैसे कि वह कार्य उनके लिए कोई खेल-कूद हो अथवा मनोबहलाव का कोई साधन हो। उनको कार्य करते देखकर ऐसा कभी नहीं महसूस होता कि वे कार्य के बोझ से दबे जा रहे हैं अथवा उससे बहुत तंग हैं या मायूस हैं या किसी द्वारा मजबूर होने के कारण कर रहे हैं। केवल कुछ गिने-चुने लोग ही कार्य करते समय ऐसे दिखायी देते हैं जैसे कि उनमें सम्पूर्ण आत्म-विश्वास हो, उस कार्य पर उनका पूर्ण काबू हो और उसके परिणाम के बारे में उन्हें रिंचक भी चिन्ता न हो। यद्यपि वे उस कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए पूर्ण रूप से सतर्क और प्रयत्नशील होते हैं और अन्त तक अपना पुरुषार्थ नहीं छोड़ते। केवल कर्मयोगी ही ऐसे हो सकते हैं। गीता में तो एक जगह पर स्पष्ट कह भी दिया गया है कि कर्म-कौशल्य का नाम योग है। इसके अतिरिक्त योगी ही के जीवन की तुलना कछुए से की जाती है क्योंकि कछुए में यह ख़ूबी होती है कि वह समय पर कार्य में प्रवृत्त भी होता है और जब चाहे कर्मेन्द्रियाँ समेटकर कार्य-निवृत्त भी हो जाता है।

विचार करने पर मालूम होता है कि इस कला के लिए मनुष्य में मुख्य रूप से छः बातों का होना आवश्यक है— (1) कार्य को समेटने की शक्ति (2) विस्तार करने की शक्ति (3) सभी कार्यों में कुशलता प्राप्त करने अर्थात् 'आलराउण्डर' (All-rounder) बनने का प्रयास (4) सृष्टि रूपी ड्रामा के पट्टे पर कायम रहना (5) यह सोचना कि यह कार्य तो मैंने असंख्य बार किया है, यह कोई बड़ी बात या नयी बात नहीं है (6) आत्म-विश्वास अर्थात् यह निश्चय कि हम तो सर्वशक्तिमान परमात्मा के बच्चे हैं, यदि यह कार्य हमसे नहीं होगा तो और किससे होगा? सफलता तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम हिम्मत करेंगे तो ईश्वर अवश्य ही हमारी मदद करेगा।

परन्तु ऊपर जिन छः बातों का मानव के जीवन में होना आवश्यक माना गया है, वे सभी ज्ञान-निष्ठ योगी के ही जीवन में हो सकते हैं क्योंकि वह ही ज्ञान के आधार पर यह समझता है कि सृष्टि रूपी चक्राकार ड्रामा में मैंने यह पार्ट असंख्य बार बजाया है। इसलिए वह हल्का होकर तथा आत्म-विश्वास से और इस निश्चय से उसे कर डालता है कि जैसे कल्प पहले यह कार्य किया था हूबहू वैसे ही अब भी यह हो ही जायेगा, इसमें रिंचक भी संशय नहीं है। अतः वह सदा कार्य करते हुए भी उपराम, व्यस्त होते हुए भी कार्य-निवृत्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त परमपिता परमात्मा से योगयुक्त मनुष्य ही कार्य की सफलता में संशय न करके और स्वयं को ईश्वरीय मदद का पात्र मानकर हर्षित मनसा से अर्थात् कार्य को मनोबहलाव का एक साधन मानकर तथा उसे अपना कर्त्तव्य जानकर ख़ुशी और स्फूर्ति से उसे कर डालता है। स्वयं को सर्वशक्तिमान का बच्चा निश्चय करने के फलस्वरूप उसमें आत्म-विश्वास सदा बना रहता है और इसलिए उसका मन दुविधा में नहीं पड़ता है, एकाग्रता से कार्य कर डालता है और बिगड़े हुए कार्य को भी अपने सरल स्वभाव से सरल, सहज तथा सफल कर डालता है। अतः योग द्वारा ही जीवन में इस कला का भी विकास होता है।

***

8. वक्तृत्व कला तथा पत्र-लेखन कला
(The Art of Speech and Letter-writting)

एक प्रभावशाली एवं लोक-पसन्द भाषण कर सकना, निजी बातचीत में अपने अभिप्राय को स्पष्ट, संक्षिप्त (To the point), सुरुचिपूर्ण ढंग से बता सकना, अपनी बात के लिए लोगों के मन में उत्सुकता, विश्वास तथा मान्यता (Conviction) का भाव पैदा कर सकना, यह भी एक कला है। मनुष्य यदि कुशल वक्ता हो तो वह लोगों के मन में घर कर लेता है और उन्हें अपना सहयोगी, समर्थक, सहायक अथवा सखा बना लेता है। वह अपने प्रिय वचनों से जन-जन को अपना बनाकर उनसे अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और इस प्रकार जीवन में सुख का प्रबन्ध कर लेता है। इस प्रकार, मनुष्य के वचनों पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। यह कहावत ठीक है कि ''यही ढाई इंच की ज़बान मनुष्य को तख्त पर बिठाती है, यही उसे तख्ते पर (फ़ाँसी पर) चढ़ाती है।'' क्योंकि यदि मनुष्य हितवचन तथा प्रिय वचन बोले तो लोग उसे ही शासक अथवा मंत्री-पद के लिए चुनते हैं और यदि वह फूट, अराजकता, उपद्रव, देशद्रोह आदि फैलाने की बात करे तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता है। किसी मनुष्य की बातचीत दो रूठे हुए व्यक्तियों को भी मिला देती है और अन्य किसी की चुग़ली, निन्दा, अवगुण-वर्णन की आदत, दो दोस्तों में भी द्वेष तथा घृणा पैदा करने का कारण बन जाती है। इसलिए कहा गया है कि ''यही ज़बान कैंची भी है और यही सूई भी है।'' यदि कोई मनुष्य ज्ञानयुक्त, अनुभवपूर्ण, अनमोल वचन बोले तो लोग कहते हैं कि इस मुख से 'लाल बरसते हैं' अथवा 'फूल झड़ते हैं' और यदि कोई मनुष्य कटु, अनीतिपूर्ण, अपमान-सूचक, मिथ्या या विवादपूर्ण वचन कहे तो लोग कहते हैं कि ''इसकी ज़बान तो कुल्हाड़े का काम करती है'' अथवा ''इसके मुख से तो पत्थर बरसते हैं।'' कोई प्रिय एवं मधुर बोल बोलता है तो लोग कहते हैं कि ''यह तो कोकिला अथवा बुलबुल (Nightingale) है'' और यदि कोई अपशब्द, अशिष्ट वचन अथवा व्यर्थ वाक्य कहकर सिर खपाता है तो लोग कहते हैं कि ''यह तो कौआ है।'' अतः किसी ने कहा है—

"कौआ किसका धन हरे, कोयल किसको दे,
मीठी वाणी बोलकर, जग अपना कर ले।"

कौआ और कोयल हैं तो दोनों ही रंग में काले परन्तु दोनों के वचन अलग-अलग हैं। इसलिए एक की उपस्थिति लोगों को भाती है, दूसरे की अखरती है। यही बात मनुष्यों पर भी लागू होती है। फिर, यह भी आप देखते होंगे कि एक मनुष्य अभिमान या क्रोध से बात करता है तो झगड़ा पैदा हो जाता है, मनमुटाव हो जाता है, शान्ति भंग हो जाती है। इतिहास बताता है कि संसार में बहुत-सी लड़ाइयाँ इसलिए हुईं कि लोगों में शब्द-शक्ति का संयम नहीं था। आज घर में, बाज़ार में, देश तथा अन्तर्देशीय क्षेत्र में झगड़े इसलिए हैं कि लोग जो बातचीत करते हैं उसमें स्नेह, सहानुभूति, सौहार्द या भ्रातृत्व की भावना नहीं है बल्कि अभिमान, क्रोध, द्वेष तथा स्वार्थ भरा हुआ है। यदि नम्रता आ जाये तो संसार सुखी हो जाता है। अतः कहा है कि "एक नम्रता सौ को हरावे" अथवा 'एक चुप सौ को हरावे।' कहाँ बोलना है, कहाँ नहीं बोलना है, कहाँ कम बोलना है और कहाँ चुप रहना है, यह एक बड़ी सूझ, बड़ी कला, बड़ी साधना है। यदि मनुष्य गम्भीर हो, प्रिय हो और नम्र हो और प्रेमयुक्त हो तो दुश्मन भी दोस्त बन सकते हैं। अतः किसी कवि ने कहा है—

"मुहब्बत से बना लेते हैं अपना दोस्त दुश्मन को,
झुका लेती है आजिज़ी[1] सरकश[2] की गर्दन को।"

पत्र-लेखन कला का महत्त्व

यही बात पत्र-लेखन के बारे में कही जा सकती है। आप देखेंगे कि आज कुशल जन-नायक अथवा विख्यात महात्मा वे हैं जो अच्छा भाषण कर लेते हैं तथा पत्र में भी लोगों के लिए कुछ ऐसा लिख देते हैं कि लोग उन पत्रों को अपने जीवन की अनमोल निधि मानकर उन्हें सुरक्षित रखते हैं। जिन्होंने इस कला को साध लिया है वे अपने पत्र द्वारा मनुष्य के विचारों को मोड़ लेते हैं, उसके संस्कारों को बदल देते हैं, उसे दूर बैठे न जाने किस डोर से चलाते हैं, उसकी मार्ग-प्रदर्शना करते, उसे किसी अच्छे उद्देश्य के लिए प्रेरित करते तथा एक उच्च लक्ष्य के लिए सहयोगी बनाकर उसका सौभाग्य बना देते हैं। जो मनुष्य जितना गुणी, ज्ञानवान, महान् विचारक तथा जन-हितैषी होता है, उसके भाषणों तथा पत्रों से भी उसका पता चलता है। महान् व्यक्तियों के भाषण अथवा पत्र इतिहास को नया मोड़ देने वाले बन जाते हैं तथा उनका प्रभाव लाखों-करोड़ों लोगों पर शताब्दियों तक पड़ता है। गीता भी तो एक भाषण ही है। देखिये तो कितनी शताब्दियों से लोग उसको श्रद्धापूर्वक पढ़ते हैं तथा उसे अपना मार्गदर्शक मानते चले आते हैं। इन्दिरा गाँधी का राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में जो स्थान था, उसका एक निमित्त कारण उसके पिता पंडित नेहरु जी द्वारा लिखे गये पत्र थे।

फिर, व्यवहार क्षेत्र में आप देखेंगे कि जो व्यक्ति दूसरों को अपनी बात जँचा देना, मनवा (convince) लेना जानता है, उसके कई कार्य बन जाते हैं। जो अपनी बात को दूसरों के सामने स्पष्ट रूप से नहीं रख पाता, अपने ध्येय या अभिप्राय का महत्त्व, अपनी वस्तु का मूल्य, अपने आशय की यथार्थता प्रगट नहीं कर पाता, वह जगह-जगह असफल होता है। इसी प्रकार, जो अपना आवेदन-पत्र (application), अपना प्रस्ताव, अपना निजी पत्र ठीक बना पाता है, उसका कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः एक अच्छा वक्ता (Orator) होना तथा पत्र-लेखन में निष्णात (Master in the Art of Letter-writting) होना, जीवन की सफलता का एक बहुत बड़ा साधन है, महान् कार्य कर सकने में बहुत सहायक है तथा स्वयं अपने विकास का द्योतक भी है और साधन भी। इसलिए जीवन की महानता में मन तथा कर्म के अतिरिक्त वचन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। क्योंकि मनुष्य का बहुत-सा कर्म-खाता तथा संस्कार-खाता उसके वचनों से बनता है।

पत्र-लेखन कला के लिए आवश्यक गुण

ध्यान देने पर आप इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि इस कला से सम्पन्न बनने के लिए इन गुणों का होना ज़रूरी है— (1) मधुरता (2) सरलता (3) ओज (4) रमणीकता (5) नम्रता (6) गम्भीरता (7) सहृदयता (8) सत्यता अथवा सफ़ाई तथा सच्चाई (9) धैर्य (10) ज्ञान एवं विचारशीलता (11) निश्चय (12) स्नेह, अपनत्व एवं हित-भावना (13) उत्साह और उल्लास (14) दूरदर्शिता।

जो मनुष्य मधुर बोलता है, लोग उसके वचनों को सुनना पसन्द करते हैं। जो सरल स्वभाव से बातचीत करता है, लोग उस पर विश्वास करते हैं तथा उससे प्यार भी करते हैं। जिसकी वाणी में ओज होता है, उससे लोग प्रभावित होते हैं और उसकी बात उन्हें याद हो जाती है तथा प्रेरित करती है। रमणीकता एक ऐसा गुण है जिस द्वारा मनुष्य दूसरों के मन को प्रसन्न करके, उनके मन (Mood) को ठीक करके उनका समर्थन अथवा अनुमोदन प्राप्त कर लेता है अथवा उन्हें हँसाकर अपनी बात को रसीला बना लेता है। नम्रता वाले मनुष्य के आगे लोग भी झुकते हैं तथा उसे महान् मानते हैं। गम्भीरता वाले मनुष्य का प्रभाव पड़ता है और लोग उससे अपने मन की बात कहने को भी तैयार होते हैं। जिसमें सहृदयता हो, उसकी बात भली लगती है, हृदय को स्पर्श करती है तथा शुष्क नहीं मालूम होती। जिस मनुष्य के वचनों में सच्चाई और सफ़ाई होती है, लोग उसकी बात को मूल्य देते हैं। जो धैर्य से और बात को तोलकर अर्थात् सोच-विचार कर बात करता है, वह बहुत बोलने से छूट जाता है, बहुत झगड़ों से बच जाता है और सभी पर उसकी शीतलता, सहनशीलता तथा हिम्मत का प्रभाव पड़ता है। जिसकी बातचीत अथवा भाषण में ज्ञान भरा हो, नवीन, गहरे, अनमोल तथा उच्च विचार भरे हों, लोग उसे बहुत समझदार, तजुर्बेकार तथा विचार-कुशल मानते हैं। वे उससे ही राय-सलाह लेते तथा उसका नेतृत्व स्वीकार करते हैं। जो मनुष्य निश्चयपूर्वक बात करता है, उसकी बात में स्वाभाविक तौर पर बल एवं ओज होता है और जो स्नेह तथा आत्मीयता से वचन कहता है, उसके वचन सबके मन में घर करते, बुद्धि में धारण हो जाते तथा प्रेरित करते हैं। पुनश्च, जिसके अपने मन में उत्साह और उल्लास हो वही दूसरों में भी जान डाल सकता है, उन्हें ऊँचा उठा सकता है और जो दूरन्देश हो, उसकी बात का ही महत्त्व होता है। इस प्रकार, ये सभी गुण जिसमें हों, वही इस कला का स्वामी होता है।

स्पष्ट है कि ये सभी गुण योगाभ्यास द्वारा ही आ सकते हैं। क्योंकि निश्चय तो योग की नींव ही है, दूसरों के प्रति हित-भावना भी 'शिव' अर्थात् कल्याणकारी पिता परमात्मा को याद करने से ही आयेगी और उस सच्चे साहिब की स्मृति से मन में सरलता, सफ़ाई और सच्चाई के गुण भी धारण होंगे तथा बोल में शक्ति और ओज अथवा जौहर भी भरेगा। अतः मनुष्य को चाहिये कि परमात्मा से योगयुक्त हो। तभी तो कहा गया है कि ''परमात्मा की कृपा से गूँगा भी बोलने लग जाता है।''

***

९. विचार कला और निर्माण कला
(The Art of Thinking and Creating)

विचार भी एक बहुत बड़ी शक्ति है। जिसे विचार करने का ढंग आता है, वह हर बात का कोई-न-कोई हल निकाल लेता है। जड़ और चेतन में यही तो अन्तर है कि चेतन में विचार शक्ति होती; सोचने, समझने और उसमें सुधार करने का संकल्प होता है। अतएव चिन्तन ही जीवन है। अर्केमेडीस (Archmedes) जोकि एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक हुआ है, ने कहा है, ''मुझे एक बहुत बड़ा डण्डा दो, जो कि बहुत मज़बूत भी हो, तो मैं पृथ्वी को उस द्वारा हिला दूँगा।'' ऐसा डण्डा वास्तव में विचार ही है क्योंकि समय-समय पर जिस विचार अथवा वाद ने संसार में ज़ोर पकड़ा है, उसने ही संसार को हिलाया है। फिर, आप देखेंगे कि संसार में जितना भी निर्माण-कार्य हुआ है, उसके लिए पहले विचार उत्पन्न हुआ अथवा विचार किया गया है। संसार में सारी चहल-पहल, सभी वस्तुयें सभी परिणाम विचार के ही फल हैं। देखिये तो, विचार पर इस संसार का कितना आधार है! इसलिए मनुष्य का मूल्याँकन करने वालों ने कहा है कि ''मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही उसका आचार होता है'' और उन्होंने जीवन की उच्चता की परिभाषा करते हुए कहा है कि ''सादा जीवन और उच्च विचार ही मनुष्य की महानता का मापदण्ड है।'' आप इस बात को मानेंगे कि जो मनुष्य विचार नहीं कर सकता, उसका जीवन भेड़चाल की तरह अथवा निर्जीव-सा हो जाता है। जो विचारक होता है, वह कोई नयी योजना बनाता, नयी ईजाद (Invention) करता, नया ज्ञान-रत्न संसार को देता और किसी समस्या का हल बताकर जन-जीवन को उबारता है। जो लोग विचार-कुशल हैं, आज वे ही संसार में सिरमौर अथवा वी.आई.पी. (V.I.P.) बने हुए हैं। जिस जाति, समाज, देश अथवा संस्था में अच्छे विचारक नहीं हैं, वे पिछड़ गये हैं। जिनका विचार नहीं चलता वे 'जड़मति' अथवा 'पिछड़े हुए' कहलाते हैं, उनकी प्रगति रुक जाती है, वे जीवन-क्षेत्र में अनुभव-रत्न प्राप्त नहीं कर पाते। अतः विचार भी एक बहुत बड़ी कला है। फिर कई लोगों का विचार सीधी रेखा पर चलता है। वे सोचने, निर्णय करने तथा निष्कर्ष पर पहुँचने का तरीका जानते हैं। कई लोगों की विचार-शक्ति बिखरी होती है। उसका कोई केन्द्र-बिन्दु नहीं होता, लक्ष्य नहीं होता और अन्य कई कुतर्क एवं विरोध-भाव से रंगकर विचार करते हैं। उनकी विचार-शैली लाभकारी नहीं होती। अतः चढ़ती कला ही वास्तव में कला है। उद्दण्ड, अनियन्त्रित एवं विकारयुक्त विचार-शक्ति ही हानिकारक है।

इस कला के लिए किन गुणों को धारण करना ज़रूरी है?

ध्यान देने पर आप देखेंगे कि इस कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए निम्न गुणों का होना अत्यावश्यक है— (1) सुनी हुई बात पर मंथन (2) आगे बढ़ने का संकल्प अथवा जीवन में कोई उच्च कार्य करने का ध्येय (3) समय को मूल्य देने का स्वभाव (4) मन की एकाग्रता (5) दृष्टिकोण की विशालता (6) मन की निर्मलता (Flawlessness) (7) विचारों को अर्द्धविराम (कोमा, Coma), पूर्ण विराम (फ़ुलस्टाप, Fullstop), प्रश्न-चिह्न (Question mark), आश्चर्यवाचक चिह्न (Sign of Exclamation) को यथा-स्थान अथवा यथा-समय लगाने की योग्यता (8) शक्ति का अपव्यय न करने का स्वभाव (9) नये-नये प्रयोग, तजुर्बे अथवा साहसी कार्य करके नये क्षेत्र में प्रवेश करने का गुण (10) एकान्त-प्रेम।

स्पष्ट है कि जो मनुष्य बात की गहराई में जाता है, मंथन करता है, उसे ही मोती मिलते हैं। कहावत भी है कि ''उन्हाँ कमाइयाँ पाइयाँ जिन गहरे पानी पैठ।'' इसके अतिरिक्त, जीवन में आगे बढ़ने का भी कुछ योग्य ध्येय होना चाहिये। मनुष्य का विचार चलना शुरू ही तब होता है जब वह पुरानी स्थिति अर्थात् वर्तमान अवस्था (Status Quo) को छोड़कर कुछ उन्नति करने का संकल्प करता है। तब ही उसके मन में प्रश्न उठता है कि क्या करूँ, कैसे करूँ...? ये प्रश्न उठने से ही उसका विचार-मंथन होता है, तभी वह कोई नया विचार संसार के आगे रखता है अथवा कोई नयी योजना बनाता, नया विधि-विधान बनाता या किसी नयी, उपयोगी अथवा रंजनकारी वस्तु का निर्माण करके स्वयं भी ख़ुशी प्राप्त करता है तथा समाज के पास भी उसकी कोई चिरस्थाई देन रह जाती है। जो लोग अपने जीवन में कोई उच्च अथवा विशेष कार्य करने का ध्येय ही नहीं अपनाते, जो यथा वर्तमान स्थिति (Status Quo) ही चाहते हैं, वे आलस्य और विलासिता में ही जीवन समाप्त कर देते हैं। वे भोगप्रिय व्यक्ति, उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँच पाते, समाज के आगे कोई नयी कृति, नयी प्रणाली, नयी युक्ति नहीं रख पाते बल्कि लकीर को पीटते ही दिन काट देते हैं। फिर, जो समय को मूल्य नहीं देता वह तो अपने जीवन के बहुत-से अनमोल क्षण, स्वर्णिम अवसर, सुहावने दिन, अनुकूल परिस्थितियाँ यों ही गँवा देता है। जो अपनी विचार-शक्ति को किसी एक केन्द्र पर एकाग्र करने की बजाय उसे बिखेर देता है, वह उस मानव की तरह है जो एक स्थान पर 20 फुट गहरा खोदकर, कुँआ बनाकर पानी प्राप्त करने की बजाय, बीस जगह केवल एक-एक फुट गहरे खड्डे खोद देता है। पुनश्च, जिसका दृष्टिकोण विशाल होता है, विचार-क्षेत्र विस्तृत होता है, वह संकीर्णताओं में नहीं फँसा रहता है, बँधा हुआ-सा नहीं अनुभव करता है, अपने सामने द्वार बन्द नहीं पाता है बल्कि विशाल मानव-समूह को सामने रखकर बड़ा-बड़ा विचार करता है तथा स्थान, वातावरण और जाति-पाति की सीमा से ऊँचा उठकर सोचता है। इसके अतिरिक्त, आप यह भी देखेंगे कि जिसका मन निर्मल होता है, व्यसनों, वासनाओं, कुटिलताओं तथा द्वेष-दोषादि से जितना रहित होता है उतना ही अधिक उसे विचारों के केन्द्रीकरण अथवा उनकी एकाग्रता के लिए सुविधा रहती है। इसी तरह विचार करने की कला में यह भी गुण शामिल है कि कहाँ पर रुकना है, कहाँ आगे सोचना है वरना निरंकुश होकर मनुष्य अपने ही विचारों की अविरल गति से स्वयं भी परेशान हो सकता है। विशेष बात यह है कि एकान्त में मनुष्य को चूँकि विचार-सागर मंथन करने में वातावरण की सहायता मिलती है, इसलिए यह गुण भी लाभदायक है। परन्तु कई परिस्थितियाँ भी विचार-उत्तेजक अथवा विचार-उत्पादक (Thoughts provoking) होती हैं, अतः वे भी विचार पैदा करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। अतएव ये सब गुण जिसमें हों, वह ही कुशल-विचारक अथवा विचार कला से सम्पन्न व्यक्ति होता है और वही नये-नये निर्माण भी कर सकता है।

परन्तु ये सभी गुण भी तभी आ सकते हैं जब मनुष्य योगाभ्यास करता है। योगाभ्यासी ही एकान्तप्रेमी, सरलचित्त, एकाग्रचित्त, उद्यमी और मंथन करने वाला होता है।

***

10. कल्याण कला और सेवा कला

(The Art of doing Social Service and Spiritual Welfare)

इसको पढ़कर शायद कोई व्यक्ति सोचेगा कि क्या यह भी कोई कला है? परन्तु गहराई से सोचने पर हर कोई इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वास्तव में यह एक बहुत बड़ी कला है। यह कला तो कोटि-कोटि मनुष्यों में से किसी अति महान् ही के जीवन में हम देख पाते हैं। आज इसी कला से ही तो सभी मनुष्य हीन हो गये हैं, तभी तो वे एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं। एक महात्मा गाँधी में सेवा-भाव था तो देखिये कि उसने एक बड़े जन-समूह को साथ मिला लिया। परन्तु सेवा-कला तो सेवा-भाव से भी उच्च प्रतिभा है क्योंकि 'कला' तो किसी कार्य को कुशलतापूर्वक करने, किसी विद्या में निपुण होने, किसी गुण में सिरमौर होने, किसी विशेषता का मालिक होने का वाचक है।

कई लोग अपने प्रारम्भिक जीवन में सोचते हैं कि ''बड़े होकर हम फलाँ भला काम करेंगे अथवा जन-कल्याण का अमुक कार्य साधेंगे'', परन्तु कुछ ही समय में वे स्वयं भी समाज के दूषित वातावरण में रंग जाते हैं। जिसमें यह कला होती है वे सिद्धहस्त होते हैं और धुन के पक्के तथा अतिमानसी (Genious) होते हैं। कोई भी भला कार्य करने में बहुत परीक्षायें तो पार करनी ही पड़ती हैं। जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं, उन सभी का हल निकालना पड़ता है, निन्दा भी सुननी पड़ती है और कदम-कदम पर मरना पड़ता है, झुकना पड़ता है। अतः सभी परिस्थितियों में सबका न केवल भला सोचना, बल्कि उनके कल्याण के लिए कुछ ठोस कार्य करना, अपना तन-मन-धन लगाना, त्याग, नम्रता, सहनशीलता, निःस्वार्थ-भाव और शुभ-चिन्तन की साक्षात् चेतनमूर्ति होना और सेवा कार्य को स्थान तक ले जाना, यह कुछ महत्त्व रखता है और इसके लिए कई गुणों की तथा काफ़ी शक्ति और कुशलता की ज़रूरत है। यह तो इस कला का स्वामी ही कर सकता है। जिसमें यह कला जितनी अधिक हो, वह उतना ही अधिक महान् माना जाता है।

हज़रत ईसा ने, बुद्ध ने तथा अन्यान्य धर्म-स्थापकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से कुछ भलाई करने का विचार तथा कार्य किया। परन्तु इतिहास बताता है कि उन्हें उसके लिए काफ़ी कुछ सहन करना पड़ा। जिनकी हम भलाई करने चलें, यदि वे भी हमारा विरोध करें और हम पर अत्याचार करें तो बताइये कि हमारे मन पर क्या गुज़रेगी? परन्तु उन लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया, तभी तो वे महान् कहलाये और लोगों ने उनको अपने हृदय में स्थान दिया परन्तु उस कार्य के बावजूद भी आज हम देखते हैं कि संसार के लोग विषय-विकारों में गोता खा रहे हैं। अतः कोई चिरस्थाई कल्याण-कार्य करना तो एक बहुत बड़े कला के स्वामी ही का कार्य हो सकता है। उसे ही मनुष्यों में 'ब्रह्मा' कहा गया है और जब-कभी किसी को कोई बात मनवाने तथा किसी को

सद्बुद्धि देकर उसका कल्याण करने की बात आती है तो लोग कहते हैं कि ''अगर ब्रह्मा उतरकर आ जावे तभी इसका कल्याण हो सकता है।'' इसका भाव यह हुआ, परमात्मा के बाद ब्रह्मा में यह कला सर्वाधिक होती है।

यों तो माता-पिता अपने बच्चों का कल्याण चाहते हैं और वे उनकी सेवा भी करते हैं परन्तु आप देखते हैं कि कई बच्चे बड़े होकर संस्कारी, पावन, उच्चाशयी और चरित्रवान सिद्ध नहीं होते। शिक्षक चाहते हैं कि शिष्य महान् बनें परन्तु उनका भी यह मनोरथ और प्रयास सफल नहीं होता। गुरु यत्न करते हैं कि उनके शिष्य साधु स्वभाव के बनें और नेता भी चाहते हैं कि वे समाज का उत्थान करें, परन्तु आज आप परिणाम यह देखते हैं कि ब्लैक मार्केट, मिलावट, रिश्वत, झूठ, छल-प्रपंच ही समाज के सूत्रधारी बने हुए हैं। चाहने पर भी माता, पिता, शिक्षक, गुरु, नेता आदि-आदि कल्याण क्यों नहीं कर पा रहे हैं? कारण यह है कि उनके अपने जीवन में शक्ति, उच्च संस्कार या महान् चरित्र, अथक सेवाभाव या मानव-स्वभाव आदि की कमी है अर्थात् वे इस कला में निपुण नहीं हैं। सबका कल्याण करने की कला तो एक परमपिता परमात्मा ही में है। इसी कारण से उनका तो नाम ही 'शिव' अर्थात् कल्याणकारी है। उन्हें ही माता-पिता, परम शिक्षक, परम सद्गुरु तथा लोकनायक आदि सम्बन्धों से, ''त्वमेव माताच पिता...'' आदि छन्दों द्वारा याद किया गया है क्योंकि वे ही इन सम्बन्धों को सामर्थ्य एवं सद्गुणपूर्ण रीति से निभाकर कल्याण करते हैं। उनके बाद मानव-सृष्टि में, साकार रूप में प्रजापिता ब्रह्मा ही ऐसे हैं जिनको जगत्पिता, ज्ञान का आदि-दाता, श्रेष्ठ गुरु आदि के रूप में भक्त लोग भी याद करते हैं। क्योंकि वे ही 'शिव' के साकार माध्यम के रूप में जगत्-कल्याण का कार्य अथवा सेवा करने में कला-कौशल सम्पन्न सिद्ध हुए। हमने स्वयं अनुभव किया है कि उनका हर संकल्प, हर वचन, हर कदम लोक-कल्याणार्थ होता है।

इस कला वाले की पहचान

अब ध्यान देने पर आप देखेंगे कि दूसरों के कल्याण का कार्य तो वही कर सकता है जिसकी अपनी स्थिति उच्च हो। दूसरों की सेवा में वही सफल हो सकता है जिसके पास सामर्थ्य हो। अतः यह कला आत्मिक शक्ति और दिव्यता का सूचक है। यह कार्य वह कर सकता है जो इतना महान् हो कि वह दूसरों का शुभ-चिन्तक हो, सदा सबका भला चाहे और सचमुच जिसका मन ''सर्वे भवन्तु सुखिना'' के संकल्प से ओत-प्रोत हो, 'चढ़ती कला, तेरे भाने सर्व दा भला' यही उसकी उत्कट अभिलाषा अथवा हृदय की वाणी, वीणा हो। 'प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो' यह उसका केवल नारा नहीं, विचारों का ताना-बाना हो, वही कल्याण का कार्य करने में सफल सिद्ध हो सकता है। ''मैं सर्व के कल्याण का कार्य कैसे करूँ?'' यह शुभ-चिन्तन निरन्तर उसकी अन्तरात्मा में ऐसा चलता ही रहे मानो उसका मन इन्हीं विचारों से निर्मित हो, दूसरा वह कुछ सोच ही न पाता हो। अपकार करने वालों का भी उपकार करना है, निन्दा करने वालों को भी मित्र मानना है, कृतघ्न से भी घृणा नहीं करना है, बस सबकी सेवा, सेवा और सेवा ही करनी है, यही उसकी बात, यही उसका संकल्प हो। जिनकी सेवा करनी है, उनको अपने मन रूपी नेत्र के सामने ला-ला कर वह कहे, ''शिव बाबा, इसकी बुद्धि का ताला खोल दो ताकि उसकी आत्मा भी जाग उठे और अपने जीवन को उच्च बना ले।'' वह उसके अवगुणों को न सोचकर, उसके किसी गुण से, प्रेम से, आत्मीयता से, निकट सम्बन्ध स्थापित करके हित वचन कह कर, मित्र-भाव से समझाकर उसका उद्धार करा ही डाले। देखिये, कितनी बड़ी लग्न, कितनी तेज़ रफ़्तार और कितने बड़े परिश्रम की आवश्यकता है! किसी में भगवान के प्रति लग्न पैदा करने के लिए पहले अपनी लग्न का पक्का होना ज़रूरी है। दूसरे को मग्न करने के लिए स्वयं मग्न होना आवश्यक है। अन्य को गति देने के लिए अपने में गतिमता होना नितान्त आवश्यक है।

इस कला के लिए निम्नलिखित गुण होना ज़रूरी है

इस प्रकार, आप देखेंगे कि इस कला के लिए मुख्य रूप से इन गुणों अथवा विशेषताओं का होना आवश्यक है— (1) शुभ-चिन्तक और शुभ-चिन्तन और शुभ-कर्त्तव्य (2) लोक संग्रहार्थ सतर्कता और अपने जीवन का निरन्तर सुधार (3) उत्साहवर्द्धक और प्रेरणादायक हर्षोल्लासपूर्ण चेहरा (4) परिस्थितियों का सामना करने की सूझ, सामर्थ्य और सात्विकता (5) अटूट निश्चय, अदम्य हिम्मत और अथक कार्य-प्रवृत्ति (6) उदारता (7) त्याग (8) नम्रता (9) निमित्त-भाव (10) आदर्श जीवन (11) आत्म-विश्वास (12) पक्की धुन।

स्वाभाविक बात है कि जो सदा दूसरों का शुभ सोचता होगा, उसकी बुद्धि ही जन-कल्याण की कोई योजना बनाने में तत्पर होगी और शब्द तथा हाथ, कल्याण-कार्य करने के लिए प्रवृत्त होंगे। पुनश्च, जो दूसरों का कल्याण अथवा उत्थान करना चाहता है, वह सदा लोक-संग्रह का ख़्याल रखेगा अर्थात् यह ध्यान रखेगा कि मनसा, वाचा, कर्मणा उससे ऐसा कुछ न हो जिसे देखकर यदि दूसरे भी वैसा करने लगें तो उनका पतन हो अथवा अकल्याण हो। अतः वह आत्मोन्नति पर ध्यान देगा, अपने जीवन के बारे में सतर्क रहेगा, स्वयं की भूलों को सुधारता चलेगा तथा यदि कोई भूल हो तो खुल्लमखुला उसे 'भूल' मानेगा ताकि दूसरे उसे गुण मानकर उसका अनुकरण न करने लगें। वह हर परिस्थिति में सात्विकता ही का प्रयोग करेगा वरना अन्य किसी भी निकृष्ट उपाय से तो उत्थान हो ही नहीं सकता, न ही दूसरों पर कुछ अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। अतः उच्च लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह आत्मिक बल, प्रभु की सहायता तथा सद्‌गुणों के व्यवहार ही पर निर्भर करेगा और उसमें आत्म-विश्वास को नहीं छोड़ेगा। फिर, यह भी निश्चित है कि सेवा करने के लिए त्याग, उत्सर्ग और उदारता की आवश्यकता है।

परन्तु, ये सभी गुण मनुष्य में योग द्वारा ही आ सकते हैं। जब कल्याणकारी (शिव) परमपिता परमात्मा से बुद्धि की लग्न लगी होगी, तभी मनुष्य के मन में दूसरों का कल्याण करने की लग्न पैदा होगी, उसके लिए कोई उपाय भी सूझेगा, सामर्थ्य और सफलता भी मिलेगी। जब मनुष्य देहभान छोड़ेगा, दिव्यता को ही प्रभु से प्राप्त सम्पत्ति मानेगा, तभी उसमें त्याग, उदारता, दानशीलता अथवा सेवाभाव पनपेगा। तभी उसका जीवन निर्मल एवं उच्च भी बनेगा और वह कार्य-क्षेत्र में उतर कर अपने सात्विक जीवन से दूसरे में सात्विकता को भरेगा। अतः इस कला को प्राप्त करने के लिए भी परमपिता परमात्मा शिव ही से योगयुक्त होना चाहिये।

***

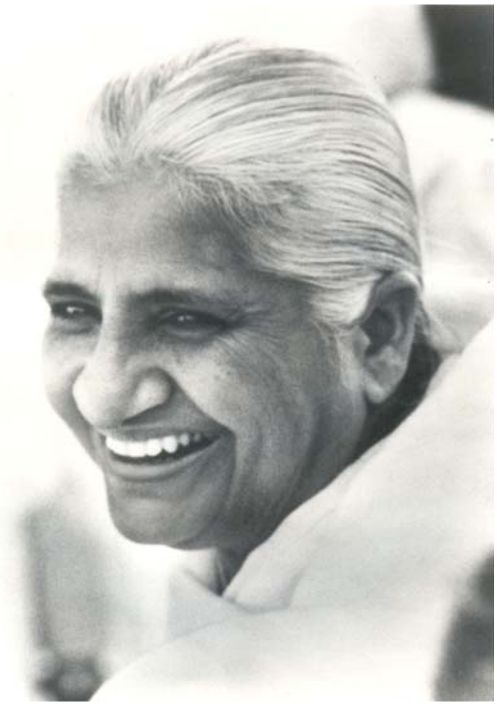

11. गुप्त करने तथा प्रत्यक्ष करने की कला
(The Art of Concealing and Revealing)

परमात्मा की महिमा करते हुए लोग कहते हैं कि ''अपने आप सभी कुछ करके, अपने आप छिपाया।'' अतः यह भी एक बहुत बड़ी कला है कि बहुत महान् कार्य करते हुए भी मनुष्य स्वयं को गुप्त एवं साधारण वेष-भूषा में रखे और अपनी ख्याति, यश या प्रशंसा को मन से स्वीकार न करे बल्कि स्वयं को छिपा कर रखे। बहुत-से मनुष्य कोई छोटा-सा भी कार्य करते हैं तो उसके बदले में नाम कमाना चाहते हैं, प्रशंसा सुनना चाहते हैं अथवा उच्च स्थान पाना चाहते हैं। आज कोई कुर्सी का इच्छुक है, कोई गुरु-गद्दी का, कोई मान का, कोई प्रतिष्ठा का। परन्तु हमने प्रजापिता ब्रह्मा के जीवन में यह देखा है कि वे स्वयं को कैसे छिपाते रहे। या तो वे लोगों को कहते, ''ये बच्चियाँ (ब्रह्माकुमारियाँ) मुझसे ज़्यादा प्रवीण हैं'' या वे कहते, ''हम तो पतित थे,यह सब शिव बाबा की कमाल है!'' कभी वे कहते, ''मैं तो गाँव का रहने वाला था, मुझे शिव बाबा ने बादशाही दे दी,'' फिर कहते, ''शिव बाबा न आते तो हम जानते ही क्या थे? हम तो दुर्गति को प्राप्त थे।'' फिर कहते, ''शिव बाबा, माताओं को ज्ञानामृत का कलश देने के लिए आये हैं, परन्तु चूँकि वह मेरे मुख से बोलते हैं, अतः मेरे कान निकट होने कारण मैं भी सुन लेता हूँ, गोया इन माताओं के निमित्त कारण से मेरा भी कल्याण हो जाता है।'' कभी वे कहते कि मातेश्वरी जी मुझ से भी आगे हैं क्योंकि वह बाल ब्रह्मचारिणी हैं जबकि मैं सीढ़ी उतरा हूँ। इस प्रकार सदा दूसरों को अपने से आगे बताना, अपने को छिपाना, इस कला का प्रयोग कर वे न केवल दूसरों को आगे बढ़ाते, उनमें उल्लास पैदा करते बल्कि उन्हें नम्रता का तथा यश को अस्वीकार कर गुप्त रहने का पाठ पढ़ाते रहे। वे सदा यही कहते कि ''गुप्त दान से महान् पुण्य होता है, गुप्त सेवा से अधिक बल मिलता है और गुप्त पुरुषार्थी ही आगे बढ़ जाता है। वे कहते, ''शिव बाबा गुप्त हैं, हमारा पुरुषार्थ भी गुप्त है, इसलिए हमें भी गुप्त ही रहना है अर्थात् अपनी प्रत्यक्षता नहीं करनी है बल्कि शिव बाबा का नाम लोगों के सामने लाना है। सभी को यही कहना कि 'शिव भगवानुवाच' अर्थात् शिव बाबा ने ऐसा कहा है, हम तो सेवक (Servant)

हैं अथवा विद्यार्थी हैं!'' इस प्रकार स्वयं को गुप्त रखना और शिव बाबा को प्रत्यक्ष करना ही गोया अपनी भी प्रत्यक्षता करना है। क्योंकि बच्चा जब गुणवान बनकर बाप को ही अपने सारे गुणों का श्रेय देकर उसकी प्रत्यक्षता करता है तो बाप फिर उस बच्चे के शील की महिमा करके उसकी प्रत्यक्षता करता है (Son shows father and father shows son)।

बाबा यह भी बताते कि यश की कामना करने अथवा नामाचार स्वीकार करने से पुण्य क्षीण होते हैं और योग रूपी कमाई में घाटा पड़ता है। जो योग का अभ्यास करता है उसे चाहिये कि न अपनी महिमा स्वयं करे, न ही दूसरों से अपनी महिमा स्वीकार करे अर्थात् उसे चाहिये कि यदि अन्य कई लोग उसकी महिमा करें तो वह उसे सुनकर अभिमानी न बने, ख़ुशी से इतराने न लगे और उस महिमा को अपने लिए न मानकर उन्हें यह कहे कि ''यह तो सब शिव बाबा का कमाल है, कराने वाला तथा सामर्थ्य देने वाला वही है।''

तो देखिये कार्य करते हुए, अपने जीवन में अधिकाधिक गुण भरते हुए भी स्वयं को गुप्त रखना, यह एक कला ही तो है। इस कला से रहित मनुष्य का न तो मन मानता है कि वह कार्य भी करे और लोग उसके गुण न गायें, उसकी प्रशंसा न करें या उसका श्रेय उसे न दें, न ही वह युक्तियुक्त अथवा ज्ञान-संगत रीति से स्वयं को गुप्त करना जानता ही है। इस कलाहीनता का परिणाम यह होता है कि वह अपने किये हुए अच्छे कार्य का क्षणिक फल, यश के रूप में भोगकर खाली हो जाता है और उस प्रशंसा को स्वीकार करके अभिमान का रोग मुँह माँग कर ले लेता है तथा उसका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि जहाँ जाता है, वहाँ उसकी यह कामना होती है कि लोग मेरा मान करें, मुझे भी समझदार और अच्छा कार्यकर्त्ता मानें, मुझे आदर दें, मेरा आतिथ्य करें तथा मेरे विचार पूछें। इस प्रकार वह नम्रता रूपी अनमोल रत्न को गँवाकर कंगाल हो जाता है, लोगों द्वारा मान रूपी टुकड़े के लिए सदा मोहताज रहता है और उनसे मन-चाहा आदर न मिलने पर उनसे रुष्ट, असन्तुष्ट या खिन्न होकर दुःखी होता है। तो स्पष्ट है कि जीवन को नम्रता, स्नेह, सहयोग आदि दिव्य गुणों से युक्त बनाये रखने के लिए तथा आन्तरिक रीति से सदा प्रसन्न, अपनी मस्ती में मस्त रहने के लिए स्वयं को गुप्त रखना भी एक बहुत बड़ी एवं उपयोगी कला है।

प्रत्यक्ष करना

जैसे स्वयं को गुप्त रखना एक महान् कला है वैसे ही प्रत्यक्ष करना भी एक कला है। पब्लिसिटी (Publicity) भी एक कला है। बहुत-से लोग अपनी या अन्य किसी की पब्लिसिटी करना जानते हैं परन्तु उसके साथ ही साथ वे गुप्त नहीं रहते, अतः उसे दिव्यता के दृष्टिकोण से कोई कला नहीं कहेंगे। कला तो इसमें है कि दोनों बातें साथ-साथ सिद्ध हों। हम गुप्त भी रहें और प्रत्यक्ष भी हों। यह कैसे हो सकता है? कोई मनुष्य कह सकता है कि ये दोनों काम एक-साथ करने की कामना करना तो गोया ऐसी कामना करना है कि हम आटा भी गूँधें और हिलें भी नहीं। परन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। आपने देखा होगा कि नट रस्सी पर चढ़कर कर्त्तव्य भी करता है और सन्तुलन भी रखता है। ऐसे ही ये दोनों कार्य भी एक-साथ हो सकते हैं, कैसे?

वास्तव में स्वयं नम्र रहना, स्वयं को गुप्त रखना ही अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्ष करना है। योगाभ्यासी एवं ज्ञानवान मनुष्य का लक्ष्य तो यही रहता है कि वह परमपिता ही की महिमा करे तथा कराये। इस उद्देश्य से वह अपना अनुभव व्यक्त करते हुए दिल की गहराइयों से कहता है कि मैं पहले पतित था, विकारों के गर्त्त में था, दुःखी था, घोर अन्धकार-कूप में था, प्रभु ने मुझ पर कृपा की और मुझे... बनाया है। इस प्रकार प्रभु की प्रत्यक्षता करने से उसकी अपनी प्रत्यक्षता साथ-साथ होती जाती है क्योंकि उससे यह मालूम हो जाता है कि अब उसका जीवन कैसा उच्च बना है। तथापि इसका उद्देश्य यह नहीं होता कि वह अपनी प्रत्यक्षता करे। उसका

लक्ष्य तो गुप्त प्रभु के सर्वोत्तम एवं कल्याणकारी कर्त्तव्यों को ही लोगों के ध्यान में ला कर उन्हें विपरीत-बुद्धि से बदलकर प्रीत-बुद्धि बनाना होता है। परन्तु ऐसा करने के लिए वह मन-वचन-कर्म से सच्चा, पवित्र, सेवा में सदा तत्पर एवं मधुरभाषी होकर व्यवहार करता है, तभी वह प्रत्यक्षता कर सकता है। इससे सिद्ध है कि यह भी एक बड़ा आर्ट है, एक बड़ी कला है।

इस कला को धारण करने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है?

उपर्युक्त बातों से यह तो संकेत मिल ही जाता है कि इस कला में निपुण बनने के लिए हममें मुख्य रूप से गुण चाहियें— (1) स्नेहयुक्त सम्बन्ध एवं व्यवहार कौशल्य (Good Public Relations) (2) जिसको प्रत्यक्ष करना है उसकी अर्थात् परमात्मा की हृदय की गहराइयों से अनुभवयुक्त महिमा अथवा गुणगान (3) तन, मन, धन सभी साधनों से लग्न और धुन से इस ओर पुरुषार्थ (4) वर्तमान सार्वजनिक प्रचार एवं प्रसार साधनों का अलौकिक एवं दिव्यतायुक्त रीति से प्रयोग (5) अपने स्वभाव में नम्रता तथा सत्यता (6) ग़लत एवं अपवित्र साधनों का त्याग (7) अटूट प्रभु-निश्चय तथा उस एक के बल और भरोसे पर स्थिर।

यदि हम इन दिव्य गुणों को अपने जीवन में धारण कर इनका प्रयोग करेंगे तो हम इस कला में निपुण होंगे और ईश्वरीय सेवा के कार्य में, लोगों को ईश्वरीय ज्ञान से परिचित कराने में भी सफल सिद्ध होंगे।

***

12. नेतृत्व कला
(The Art of Leadership)

संसार में प्रायः लोग दूसरों के पीछे-पीछे चलते हैं। जैसे बहुत-सी भेड़ें आगे वाली भेड़ को देखकर उधर ही जाना शुरू कर देती हैं जिधर वह आगे वाली भेड़ जा रही हो, ऐसे ही प्रायः लोगों का हाल होता है। वो रास्ता उन भेड़ों को अपने घर की तरफ़ या चरागाह की तरफ़ ले जाता हो या रेगिस्तान की दिशा में ले जाने वाला हो, वे इस बात पर सोच-विचार नहीं करतीं। इसी प्रकार कई लोग कोई दूसरा रास्ता नहीं निकालते, वे लकीर के फ़कीर होते हैं। जो रस्म-रिवाज चलते आये हैं, उन पर वे पुनर्विचार नहीं करते। गोया वे दूसरों ही की बुद्धि के बल पर चलते हैं। बहुत थोड़े ही लोग ऐसे होते हैं जिनकी बुद्धि रचनात्मक (creative) होती है। **चीज़ों को अधिक आसान बनाने, वस्तु में नवीनता लाने, उसे अधिक उपयोगी बनाने, उसके सौन्दर्य को निखार कम ख़र्च में भी चीज़ को गुणवत्ता देने की योग्यता और कला किसी विरले में ही होती है।**

बहुत-सी संस्थायें, बहुत-से समाज, बहुत-से देश दिनोंदिन अवनति और गिरावट की ओर इस कारण गतिमान होते हैं कि वहाँ कोई अच्छा नेता नहीं होता। उन्हें कोई मार्गदर्शक नहीं मिलता; कोई प्रगति का पथ-प्रदर्शक नहीं होता। बड़ी-बड़ी सेनायें भी युद्ध में तब हार जाती हैं जब उनका नेतृत्व करने वाला कमाण्डर कुशल न हो। परिवार में भी फूट पड़ जाती है यदि उनको कोई मिलाने वाला वरिष्ठ व्यक्ति न हो, जो उन्हें प्रेरित करता रहे। अतः नेतृत्व कला तो ऐसी कला है कि उससे लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का अथवा देश और समाज का भला हो सकता है।

परन्तु, नेतृत्व वह कर सकता है जो कोई नये विचार दे सके, नयी योजना बना सके, नया मार्ग दिखला सके, मुर्दा दिल इन्सानों में भी नयी जान डाल सके तथा बिखरे हुए लोगों को एकजुट कर सके और उस संगठन को दिनोंदिन बढ़ाता हुआ चला जाये। नेतृत्व वह कर सकता है जिसे व्यक्तियों की पहचान हो, जिसे यह मालूम हो कि कौन व्यक्ति क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता है, कौन वफ़ादार है, कौन धोखा दे सकता है, किस पर निर्भर हुआ जा सकता है और किस पर भरोसा करने में खतरा है। जिसके बारे में आम लोग यह कहते हैं कि वह काम का आदमी नहीं है, नेता उसको भी एक ज़िम्मेवार आदमी बना सकता है। वो सब में उमंग-उत्साह ला कर एक नया जोश, नयी जवानी ला सकता है। वो कभी पूर्णतः निराश नहीं होता, उसका अपना उत्साह अदम्य होता है। उसकी चित्त-शक्ति (will power) फ़ौलाद से भी ज़्यादा मजबूत होती है। वो न तोपों से डरता है, न पहाड़ों से घबराता है, न नदी देखकर रुक जाता है, न फिसलन देखकर घर बैठ जाता है बल्कि जो लक्ष्य वो निर्धारित कर लेता है, उस तक पहुँचने के लिए वो अपने-आप ही साधन जुटा लेता

है। साधन स्वयं उसके पास खिंचे आते हैं परन्तु वो अपनी लगन का पक्का होता है। वो ख़ाली हाथ हो और कोई भी उसके साथ न हो तो भी वो एक झंडा ले कर चल पड़ता है और धीरे-धीरे काफ़िला बन उठता है और लोग उसके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं और ऐसा नारा लगाते हैं जो आसमान में गूँज उठे। कमज़ोर से कमज़ोर और डरपोक से डरपोक व्यक्ति भी उसके बनाये संगठन में अब शक्ति का अनुभव करते हैं और कुछ कर गुज़रने की सोचते हैं। और तो क्या, अपनी कमर कसकर, सिर पर कफ़न बाँधकर वो जान की बाज़ी लगाने को भी तैयार हो जाते हैं।

परन्तु ऐसा नेतृत्व वो कर सकता है जो न केवल लगन का पक्का हो बल्कि मन का सच्चा हो, चतुर हो परन्तु बे-ईमान न हो। उसकी ईमानदारी ही उसकी सबसे बड़ी साख है। ऊँचे आदर्श, श्रेष्ठ विचार, निःस्वार्थ मन, कम ख़र्च वाली जीवन-पद्धति, सबकी भलाई का दृढ़ संकल्प, सबको अपना कर चलने की योग्यता, सबसे प्रेम और मधुरता का व्यवहार, अनुशासन और प्रशासन की योग्यता व्यक्ति को एक अच्छा नेता बनाती है।

नेता को समय की पहचान होती है। कौन-से अवसर पर क्या कहना और करना है और किस प्रकार के हाव-भाव प्रगट करने हैं, इस बात की उसमें सहज-बुद्धि होती है। वह अच्छे अवसरों को अपने हाथ से टलने नहीं देता। यदि कोई भूल-चूक हो जाये तो उसके लिए वो क्षमा माँगना या प्रायश्चित करना जानता है। लोगों द्वारा प्रशंसा या निन्दा किये जाने पर वो डाँवाडोल नहीं होता। वो सदा चौकन्ना हो कर चलता है और जनता से तालमेल बनाये रखने की उसमें क्षमता होती है। **व्यक्तियों द्वारा किये गये अच्छे कर्मों की वो सराहना करता है और जो कार्य दूसरों ने किया, उनका श्रेय वह उनको ही देता है। दृढ़ मन वाला होने के बावजूद भी वो नम्रचित्त होता है और नम्रचित्त होने के बावजूद भी वो अपने स्वमान को नहीं छोड़ता।**

अतः ज्ञानी और योगी बनने के साथ-साथ 'नेतृत्व कला' का अभ्यास करना भी ज़रूरी है क्योंकि इस द्वारा हम जनशक्ति को संगठित करके बड़े-बड़े कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं। इससे हम अपने जीवन के समय और शक्ति का भी कई गुणा लाभ लोगों को दे सकते हैं और स्वयं में कई सद्‌गुणों का विकास कर सकते हैं।

परन्तु जीवन में इस कला का अभ्युदय और विकास तभी हो सकता है जब हमारी बुद्धि का योग ईश्वरीय शक्ति से जुटा हो। यदि परमात्मा से योग न हो तो बार-बार ग़लतियाँ होने की संभावना है और जीवन में कई परीक्षायें आने पर निराश होने की भी संभावना है तथा पथ से हट कर कुपथ पर चलने का भी ख़तरा है। यदि परमात्मा हमारा मार्गप्रदर्शक हो, उससे हमें ईश्वरीय शक्ति का लाभ होता रहे तभी हम स्वयं भी अनुशासनबद्ध हो कर चल सकेंगे और दूसरों का भी कुशल नेतृत्व कर सकेंगे। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम पवित्रता को सुदृढ़ करें और योगशक्ति द्वारा स्वयं को मर्यादित करें और उच्च लक्ष्य को सामने रख कर तथा योगयुक्त हो कर स्वयं आगे बढ़ते हुए दूसरों को भी आगे बढ़ने की प्रेरणा दें।

***

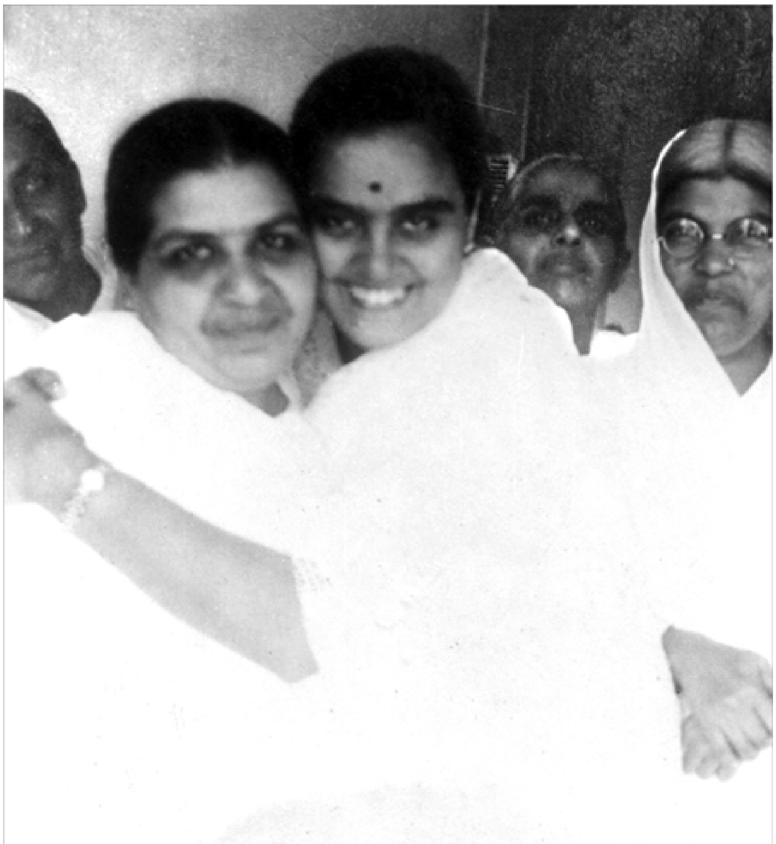

13. पालना करने की कला
(Art of Sustenance)

जिस व्यक्ति को खेती करने की कला आती है, वो जानता है कि बीज बोने के बाद खेत की सिंचाई भी करनी पड़ती है और जब थोड़े-थोड़े फूल-फल निकलने लगते हैं तो उनका पक्षियों से बचाव भी करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कई क्रियायें अन्य प्रकार की भी करनी होती हैं जिनसे उत्पादन में रुकावट न हो और फ़सल पूरी तरह से उग पाये। थोड़े समय के बाद ज़मीन को खुरपा आदि साधनों से नरम भी करने की ज़रूरत होती है ताकि पौधे को हवा और नमी मिलती रहे। इसी प्रकार, जब हम किसी के मन में ज्ञान रूपी बीज बोते हैं अथवा उसकी बुद्धि में निश्चय की कलम लगाते हैं तो उस ज्ञान और निश्चय को अनेक प्रकार की आपदाओं से सुरक्षित रखना पड़ता है वरना कई कारण ऐसे उपस्थित होते हैं जिनसे कि मनुष्य के निश्चय की जड़ें कमज़ोर हो सकती हैं और उसमें ज्ञान का बीज फलीभूत होने से वञ्चित हो सकता है।

अन्यश्च, माता-पिता भी बच्चे के पैदा होने के बाद उसका ठीक रीति से लालन-पालन करते हैं ताकि वो कमज़ोर न रह जाये बल्कि उसका शरीर स्वस्थ, सन्तुष्ट और संवर्द्धित हो। ठीक इसी रीति से ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा मनुष्य को नया (आध्यात्मिक) जन्म देने के बाद उसके प्रति स्नेह, सौहार्द, सहानुभूति, सहयोग के भाव की अभिव्यक्ति करना ज़रूरी होता है ताकि वो परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो, वरना संसार में मनुष्य के जीवन में कई ऐसी घटनायें घटती हैं जिनसे उसकी आस्था कमज़ोर पड़ सकती है, उसका निश्चय हिल सकता है, उसकी योग-यात्रा में विघ्न उपस्थित हो सकते हैं और वो मनुष्यों से तो क्या, भगवान से भी रुष्ट हो सकता है और पुरुषार्थ को छोड़ कर फिर से माया का मुरीद बन सकता है। सांसारिक जीवन में चलते-चलते किसी के पति की मृत्यु हो सकती है, तो किसी के बच्चे को काल अकाले ले जा सकता है अथवा उसके सामने किसी अन्य

रूप में कष्ट या क्लेष उपस्थित हो सकता है। ऐसे अवसर पर जब कोई यह भली-भाँति समझ लेता है कि आत्मा का पति परमेश्वर है जो कि सदा अजर और अमर है और कि अनसूया बनकर परमात्मा ही को पुत्र रूप में अपनाया जा सकता है अथवा श्रीकृष्ण को ही दिव्यदृष्टि या दिव्यबुद्धि के आधार पर अपनी गोद में लिया जा सकता है तो उसे इस वेदना की परिस्थिति में सांत्वना मिल सकती है। इसी प्रकार, यदि ज्ञानमार्ग पर चलते-चलते कोई व्यक्ति जीवन में थकावट या बोरियत महसूस करता है और पुरुषार्थ छोड़कर घर बैठ जाता है तो उसमें फिर से उमंग-उत्साह लाने, उसे किन्हीं ज्ञानयुक्त एवं मनोरंजक कार्यक्रमों में शामिल होने तथा पुनः पुरुषार्थ के पथ पर चलने की प्रेरणा दी जा सकती है। ये सब सूक्ष्म रूप से ज्ञान, योग तथा सद्‌गुणों के द्वारा आत्मा की पालना करने की विधियाँ ही हैं।

कुछ ज्ञानवान आत्मायें कर्म करने में अधिक दिलचस्पी रखती हैं, उन्हें सेवा करना अच्छा लगता है। बैठ कर चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने की बजाय उन्हें निमित्त भाव से तन-मन-धन के द्वारा परोपकार के कार्यों में प्रवृत्त होना अधिक पसन्द होता है। ऐसे लोगों को सेवाकार्य में लगाये रखना भी उनकी पालना करना ही है।

कुछ लोग नयी-नई बातों को सोचना और करना चाहते हैं। वे नवीनता के बिना जीवन में नीरसता का अनुभव करते हैं। वे नयी योजना के बारे में सोचना चाहते हैं, कोई नयी रचना करना चाहते हैं। उनकी बुद्धि को चिन्तन में प्रवृत्त करना गोया उन आत्माओं की पालना करना है।

(i) स्थूल एवं सूक्ष्म प्रकार से मनुष्यात्माओं को पुरुषार्थ में आगे बढ़ाना, (ii) उनका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ना, (iii) उन्हें दैवी परिवार में निकट लाना, (iv) दिनोंदिन उनके विकास के लिए नये साधन एवं कार्यक्रम रचना, (v) समय और स्नेह के द्वारा उनके मन के बोझ को हल्का करना, (vi) उन्हें आत्मीयता का अनुभव कराना, (vii) उन्हें पूज्य बनने वालों की माला का मणका बनाना, (viii) परमपिता परमात्मा से पूरी रीति से विरासत लेने का अधिकारी बनाना, (ix) उनकी कमियों और कमज़ोरियों को दूर करने का यत्न करना, (x) दैवीगुणों से उनकी धारणा को सुदृढ़ करना, (xi) आध्यात्मिक शक्तियों से उन्हें शक्तिशाली बनाना— ये सब पालना करने के विभिन्न तरीके हैं। जिसे ये कला आती हो वो ही अनेक आत्माओं को आन्तरिक सुख देकर उन्हें माया के दुःख-दर्द से छुड़ा कर उनके आशीर्वाद अथवा उनकी दुआओं का भागी बनता है। उसे ही परमात्मा से अनेक वरदान प्राप्त होते हैं। जो रूहानियत और रूहाब से इस जन्म में आत्माओं की ऐसी पालना करता है, वो ही भविष्य में प्रजारंजक अथवा जनता का जनार्दन या राजाओं का राजा, मनुष्य से देवता बनता है।

इस कला का विकास मनुष्य में तब होता है जब उसके मन में यह भावना तीव्र रूप ले लेती है कि मैं अनेकानेक को सुख और शान्ति दूँ। देने वाला, 'दाता' ही ये पालना कर सकता है। जिसे लेने की धुन सवार हो वो भिखारी व्यक्ति दूसरों को भला कैसे पालना दे सकता है? पालना वो दे सकता है जिसमें दूसरों के प्रति स्नेह और सहानुभूति हो। जिसका व्यवहार क्रूर हो और मन सदा असन्तुष्ट एवं रुष्ट हो, वो भला दूसरों को कैसे पालना दे सकता है? अतः इस कला के लिए आवश्यकता इस बात की है कि (i) दूसरों के प्रति शुभभावना हो, आत्मीयता हो और सौहार्द हो और (ii) दातापन का भाव हो। जिसका हाथ सदा लेने की मुद्रा में हो वो पालना नहीं दे सकता। पालना वही दे सकता है जिसका हाथ सदा देने की मुद्रा में हो। परन्तु ये कला इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जो इसमें निपुण हो जाता है वो दैवी राजाओं का भी राजा बनता है।

***

14. बिगड़ी को बनाने की अर्थात् व्यर्थ को समर्थ में बदलने की कला

कई बार किसी चीज़ को देखकर ऐसा लगता है कि वह बिल्कुल बेकार है; उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। उसे फेंक दिया जाता है। परन्तु आज तो कबाड़ख़ाने बने हुए हैं। जिसे हम व्यर्थ काग़ज़, टूटी बोतलें, बहते कनस्तर या फटे-पुराने कपड़े समझते हैं; उन्हें भी कबाड़ी ख़रीदता है। वो उसका फिर से नवीनीकरण करने के लिए अथवा कच्चे माल के तौर से उनका प्रयोग करने के लिए कारख़ाने वालों को बेच देता है। कबाड़ख़ाने के इस माल को लेन-देन करके वो मालदार बन जाता है। इसका अर्थ तो यही होता है कि **पूर्णतः व्यर्थ कोई भी चीज़ नहीं है। जिन चीज़ों का उपयोग करना हम नहीं जानते, उन्हें हम 'व्यर्थ' अथवा 'वेस्ट' (waste) कह देते हैं।** एक ज़माना था जब हम ऐसी बहुत-सी चीज़ों को फेंक देते थे परन्तु आज तो काग़ज़ के 'बेकार' टुकड़ों का, सिलाई के बाद बचे हुए कपड़े के चीथड़ों का, फटे-पुराने वस्त्रों का, लोहे की चीज़ें बनाने के बाद बचे-खुचे बे-मेल टुकड़ों (scrap) का, यहाँ तक कि माचिस की प्रयोग की हुई तीलियों का भी रूपान्तर करके उन्हें उपयोगी वस्तु बनाया जा सकता है।

एक समय ऐसा था कि कारख़ाने में जो चीज़ बनायी जाती थी, उसे बनाने के बाद जिस प्रकार की सामग्री बच जाती थी, उसे बेकार मान कर उससे छुटकारा पाने का यत्न किया जाता था। परन्तु आज तो उनका प्रयोग करने के तरीके भी निकल आये हैं और उन्हें भी उप-पदार्थ (By-products) मान कर उनका क्रय-विक्रय होता है और उन्हें प्रयोग में लाया जाता है।

ठीक इसी प्रकार, पुरुषार्थी जीवन में कई अवसर ऐसे आते हैं जब ऐसा महसूस होता है कि हानि (loss) हो गयी है। परन्तु उस **हानि को भी कई गुणा लाभ में परिवर्तित करने की विधि अथवा युक्ति भी अपने प्रकार की एक कला है।** मान लीजिये कि किसी को अपने व्यापार में कुछ आर्थिक हानि हो गयी और उसके कारण उसका धन्धा ठप्प हो गया अथवा उसकी कमाई ही रुक गयी। तब सम्भव है कि उससे उसकी ख़ुशी कम हो जाये, उमंग-उत्साह क्षीण हो जाये और ऐसा लगने लगे कि उसका भाग्य ऊँचा नहीं है। व्यापार के मन्द या बन्द होने के साथ उसका पुरुषार्थ भी ढीला पड़ सकता है। परन्तु जिसे हानि को लाभ में बदलने की कला आती होगी वो तो स्वयं भगवान में अटूट आस्था रखकर और ये सोचकर कि अब उसे विनाशी कमाई की बजाय अविनाशी कमाई करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, वो अधिक योगाभ्यास करके अनमोल आध्यात्मिक अनुभवों से मालामाल हो जायेगा। वो ये सोचेगा कि विनाशी धन तो वैसे भी अब निकट भविष्य में धूल-धूसरित होने वाला है,

इसलिए उसे अविनाशी कमाई करने की ज़रूरत है। ऐसा सोचने से उसकी ख़ुशी का ख़ज़ाना बढ़ेगा और दिनोंदिन उदास रहने की बजाय वो अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करेगा।

इसी तरह, मान लीजिये कि किसी के शरीर को कोई छोटा-मोटा रोग लग गया। अब इस बात की संभावना है कि उसको यह संकल्प आये कि वो स्वास्थ्य जैसी अनमोल चीज़ को गँवा बैठा है और अब किसी काम के योग्य नहीं रहा है और कि दवा इत्यादि पर उसकी पिछली कमाई का पैसा भी लग रहा है। परतु जो इस कला का जानकार होगा वो ऐसे व्यर्थ संकल्प न करके सबको समर्थ बनाने का संकल्प करेगा। वो यह सोचेगा कि अब उसे ऐसा अवसर मिला है जब वो अधिक समय परमात्मा की स्मृति में स्थित हो सकता है, ज्ञान की गहराई में गोता लगा सकता है और सेवा की रफ़्तार को बढ़ाने के लिए कुछ अधिक योजनायें बना सकता है और सोच-विचार कर सकता है। उससे जो लोग मिलने आयेंगे, उनको वो अपनी स्थिति और वाणी से 'आत्मिक स्वास्थ्य' (Spiritual Health) की ओर आगे बढ़ा सकता है।

ऐसे ही, मनुष्य की जब निन्दा होती है तो उसके मन में यह संकल्प चल सकता है कि वह व्यक्ति उसका विरोधी है और उसने उसके प्रति अपनी दुश्मनी का भाव प्रगट करने के लिए ही ऐसा किया है। परन्तु इसकी बजाय यदि वो ऐसा सोचे कि ''मैं स्वयं में ऐसा परिवर्तन लाऊँगा कि निन्दक भी प्रशंसक बन जाये और मैं स्वयं भी लोक-पसन्द तथा प्रभु-पसन्द बन जाऊँ'', तब वो इस कला का जानकार कहलायेगा।

वास्तव में यह कला ऐसी कला है जो व्यक्ति को कई विषम परिस्थितियों में ही नहीं बल्कि प्रतिदिन काम में आती है। प्रतिदिन ही मनुष्य के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब उसे किसी न किसी प्रकार की क्षति होती दिखती है। यदि वो उन विषम परिस्थितियों को बदल कर जीवन में मोड़ ले आता है और इन परिस्थितियों को सुख का साधन बना लेता है तब वो इस पुरुषार्थी जीवन में बहुत आगे निकल जाता है। अतः सम्पूर्णता के लिए इस कला का अभ्यास बहुत ज़रूरी है।

परन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने इस दृष्टिकोण को बदल दे कि कोई चीज़ बिल्कुल ही बेकार होती है। इसकी बजाय वो यह सोच ले कि जैसे परमात्मा बिगड़ी को संवारने वाला है, वैसे ही उसका भी बिगड़ी को बनाने की कला का अभ्यास करना ज़रूरी है।

***

15. हास्य एवं विनोद कला

यों तो ईश्वरीय ज्ञान रमणीक है। जिसे ज्ञान की गहराई में उतरना आता है, उसके **जैसी ख़ुशी और किसी को नहीं होती। जिसका जीवन योगयुक्त है, वो आनन्द-विभोर होता है और उसे स्थूल विनोद की ज़रूरत महसूस नहीं होती। जो दिव्यगुणों के मोती चुगता है और क्षीर ले लेता है तथा नीर को अलग कर देता है, उस सद्विवेकी व्यक्ति को स्थूल हास्य में कोई विशेष रस नहीं मिलता। जो सेवा में लगा रहता है, उसका मन सदा मुस्कराता रहता है। बाह्यमुखता पर आधारित हँसी-विनोद की आवश्यकता उसे होती है जिसे अभी रूहानी नशा नहीं चढ़ा।**

परन्तु जब तक मनुष्य के जीवन में ज्ञान पूरी तरह से रंग लाये और योग उसके जीवन में सुगन्धि भरे तथा गुणों में रमण करते-करते वो उसके रस में डूब जाये, तब तक उसे कभी-कभी रमणीकता की आवश्यकता महसूस होती है।

इस प्रयोजन से व्यक्ति यह महसूस करता है कि वो कोई गीत सुन ले, कोई नाटक देख ले, उसे हँसी की कोई बात सुना दी जाये जिससे कि वो ज्ञान की गम्भीरता से ऊपर आकर थोड़ा हल्कापन अनुभव करे। अतः यदि किसी व्यक्ति को ऐसी कला आती हो कि वो ज्ञानयुक्त हँसी की कोई बात सुना दे जिससे गम्भीर समस्या सामने होने पर भी सुनने वाला खिलखिला उठे। वो कोई ऐसी कविता सुना दे जिससे कि व्यक्ति के मन में एक नयी उमंग जाग जाये, गीत की कोई दो पंक्तियाँ ही ऐसी गा दे जिससे मनुष्य का मन झूम जाये और बात को ऐसे चुटकुले में बदल दे कि चिन्ता व्यक्ति के मन से छूट जाये और उसे ऐसे लगे कि वो यूँ व्यर्थ ही चिन्ता कर रहा है, तब इससे भी काफ़ी सेवा हो जाती है।

इसलिए जीवन में सदा ख़ुश रहने के लिए और दूसरों को ख़ुश रखने के लिए थोड़ी-बहुत हास्य और विनोद की कला का आना भी ज़रूरी है, इससे व्यक्ति एक-दूसरे के नज़दीक आते हैं। कटुता अथवा नाराज़गी को छोड़कर हँस पड़ते हैं। दुःख-दर्द को भूलकर एक नयी शक्ति का प्रवाह अपने जीवन में महसूस करते हैं और एक-दूसरे के साथ तालमेल बनाये रखना सहज महसूस करते हैं।

जिन व्यक्तियों के जीवन में केवल रूखापन हो, जो कभी भी अवसर आने पर हास्य या विनोद कला के किसी भी रंग-ढंग को प्रयोग करना न जानते हों, लोग उनसे उकता जाते हैं। वे उसके प्रति आकर्षित नहीं होते और मेलजोल को सहज नहीं मानते बल्कि दूर-दूर रहते हैं। इससे ऐसे व्यक्तियों को जन-सम्पर्क के कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं होती। लोगों के मन को जीतने की उस कला में कमी रह जाती है। नीरस व्यक्ति की अपनी नीरसता के कारण वातावरण में नीरसता छा जाती है और लोग उसे अपनी महफ़िल में शामिल करने के लिए

हिचकिचाते हैं। वे यह चाहते हैं कि कभी तो वे जी खोलकर बोल सकें, अनौपचारिक रूप से मिल सकें और दोस्तान तरीके से बातचीत कर सकें। इसके लिए हँसी और विनोद वाले व्यक्ति को अपनी संगत में रखना चाहते हैं।

हँसी और विनोद का अभिप्राय यह नहीं है कि अभद्रता और उच्छृंखलता तथा चंचलता और चपलता से बोलचाल या व्यवहार किया जाये। इसका यह भी भाव नहीं है कि इतना खिलखिलाया जाये, ज़ोरदार कहकहे लगा कर हँसा जाये और मज़ाक का गोलगप्पा खाया जाये कि आत्मा और परमात्मा की सुध-बुध ही भूल जाये और लक्ष्य तथा पुरुषार्थ की विस्मृति हो जाये। रूहानियत के बिना तो हँसी और विनोद समय गँवाने वाले, बाह्यमुखता में लाने वाले, वातावरण को बिगाड़ने वाले तथा देहाभिमान में लाने वाले होते हैं। ज्ञानी और योगी ऐसे हँसी और विनोदप्रिय नहीं होते जो वह हँसी उसे प्रियतम प्रभु से दूर कर दे और योग की ऊँचाइयों से उतार कर धराशायी कर दे। बल्कि शिष्टता, सज्जनता, मर्यादा से युक्त होकर अच्छे प्रकार के हँसी और विनोद के तरीके— गीत, कविता, नाटक, कहानी आदि ही ठीक प्रकार के ऐसे साधन होते हैं जो आमोद, प्रमोद, विनोद भी करते हैं और मनुष्य को घटिया प्रकार की भाव-अभिव्यक्ति में लोटपोट नहीं करते।

ऐसी हँसी और विनोद की कला का विकास करने के लिए न तो कोई टॉनिक लेने की आवश्यकता है और न ही कोई अधिक चुटकुले इकट्ठे करने की ज़रूरत है बल्कि स्वयं ख़ुशी में रहने की आवश्यकता है जिससे कि सहज भाव से ही मनुष्य के ऐसे बोल निकलेंगे कि मनुष्य का मन खिलखिला उठेगा। **इसके अतिरिक्त, गीत, नाटक, कहानी भी ऐसे होने चाहिएँ जो न केवल मनोरंजन के साधन हों बल्कि मन को लुभावने तरीके से अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करने वाले हों।** जिसका जीवन निश्चिन्त हो, व्यर्थ सोच से फ़ारिग़ हो, उसका अपना हल्कापन उसमें स्वतः ही ऐसी कला को स्फुटित और विकसित करता है जिसे कि हम उच्च कोटि का हँसी के स्वभाव वाला मानव कह सकते हैं।

***

16. स्वास्थ्य कला

यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'यदि मनुष्य का स्वास्थ्य गया तो मानिये कि उसका कुछ महत्त्वपूर्ण नुकसान हुआ।' स्वास्थ्य के बिना मनुष्य की शारीरिक कार्य-क्षमता में अन्तर आता है। शारीरिक कमज़ोरी से मनुष्य कई अच्छे काम करना चाहते हुए भी नहीं कर पाता। और तो क्या, मनुष्य की साधना में भी अस्वस्थता कुछ न कुछ बाधा उपस्थित करती है और उसका ध्यान महत्वपूर्ण आध्यात्मिक सेवाओं की ओर ले जाने तथा लगाने की बजाय शरीर की ओर खिंचवाती है। अतः स्वास्थ्य एक अनमोल निधि है।

परन्तु दवाइयों के आधार पर शरीर को चलाते रहना स्वास्थ्य नहीं है। वास्तविक स्वास्थ्य वो है कि स्वाभाविक एवं प्राकृतिक रीति से, निर्विघ्न रूप से स्वचलित हो। उसके लिए जीवन में कई प्रकार की धारणाओं की आवश्यकता है। यद्यपि पिछले अनेक जन्मों के कर्मों के हिसाब-किताब के चुक्ता होने के लिए भी अस्वस्थता मनुष्य को आ घेरती है तो भी जीवन में कुछेक महत्त्वपूर्ण नियमों के पालन से भी काफ़ी हद तक स्वास्थ्य बना रह सकता है। आज यह माना जा रहा है कि मनुष्य को कई रोग उसके वंश के पूर्वजों से मिलते हैं और इसलिए उनका मुख्य कारण आनुवंशिक होता है और कुछेक रोग दुर्घटना से, प्राकृतिक प्रकोपों से, पर्यावरण प्रदूषण से और अनायास ही खाने-पीने की चीज़ों में मिलावट से उसको आ पकड़ते हैं। निःसन्देह कर्मों के सूक्ष्म प्रभाव के रूप में ये सब कारण तो होते हैं परन्तु जहाँ तक मनुष्य के स्वास्थ्य की स्वयं उस द्वारा देखभाल करते रहने की बात है, वहाँ यह भी सत्य है कि **जीवन के कई ऐसे विधि-विधान हैं जिनको पालन करने से मनुष्य को अपना स्वास्थ्य बनाये रखने की सुविधा होती है। उन नियमों तथा विधि-विधानों का पालन करना भी स्वयं में एक बहुत बड़ी कला है जिसे हम यहाँ 'स्वास्थ्य कला' कह रहे हैं।**

उदाहरण के तौर पर सदा ख़ुशी में रहना स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है। कहा गया है कि ख़ुशी जैसी ख़ुराक नहीं। चिन्ता को चिता के समान माना गया है। भय भी मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाने वाला विकार है जो उसके हृदय, मस्तिष्क और सारे स्नायुमंडल को झकझोर देता है। चिन्ता और भय से भोजन भी शरीर में विकृत रूप ले लेता है और विषाक्त हो कर शरीर को रुग्ण अवस्था में ले जाता है। इसके विपरीत कोई मनुष्य

दिनोंदिन हृष्टपुष्ट होता जाता है, मानो कि वो कोई पुष्टिवर्धक पदार्थ (Tonics) खाता हो। कहा गया है कि यदि मनुष्य के भोजन में सब विटामिन हों परन्तु यदि ख़ुशी रूपी विटामिन न हो तो शरीर के विकास तथा स्वास्थ्य में कमी आती है। परन्तु मनुष्य सदा ख़ुश तब रह सकता है जब वो (i) ईश्वर में निश्चय-बुद्धि होता है, (ii) भावी में विश्वास रखता है, (iii) कर्मों की गति को समझता है, (iv) इन सब बातों को जानकर अपनी ओर से पुरुषार्थ करता है और फिर (v) परिणाम के बारे में व्यथित नहीं होता। ये सब तो ऐसे ज्ञानी और योगी ही के लक्षण हैं जो पुरुषार्थ में पूरे रूप से तत्पर रहता है और कर्मफल की चिन्ता छोड़ देता है।

जो व्यक्ति सात्विक भोजन करता है उसका स्वास्थ्य भी स्वाभाविक रूप से ठीक बना रहता है। सात्विक भोजन से अभिप्राय यह है कि (i) उसमें मांस-मदिरा, प्याज, लहसुन, तम्बाकू, उत्तेजक पदार्थ, अनेक प्रकार के तेज़ मिर्च-मसाले इत्यादि नहीं होते, (ii) जो बासी, बिगड़े हुए स्वाद वाला, चिरकाल से रखा हुआ, (iii) भारी, (iv) देर से हज़म होने वाला इत्यादि दोषों से रहित होता है। इस पर भी विशेष बात यह है कि जिस भोजन को बनाने वाला व्यक्ति पवित्रता का पालन करता हो और भोजन बनाते समय योगयुक्त हो, वही भोजन सात्विक है। इतना ही नहीं, बल्कि भोजन को सात्विक कोटि वाला बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि (v) खाने वाला व्यक्ति भी खाते समय योगयुक्त होकर सेवन करे। जो व्यक्ति योगयुक्त होकर भोजन करता है वो (vi) स्वाद के वशीभूत होकर पदार्थ को ज़रूरत से ज़्यादा मात्रा में नहीं लेता। (vii) जो पदार्थ उसके शरीर के अनुकूल न हो, उसे भी वो नहीं लेता और भोजन को एक प्रकार से (viii) प्रसाद मानकर (ix) मन की मुदित एवं निश्चिन्त अवस्था में उसे स्वास्थ्यप्रद मान कर स्वीकार करता है। ऐसे भोजन से मनुष्य के मन में हर्ष उत्पन्न होता है, उसे शरीर में हल्कापन महसूस होता है और वो आलस्य के अधीन नहीं होता।

जिस व्यक्ति को सकारात्मक विचार (Positive thinking) करने का अभ्यास है, उसके शरीर में भी स्फूर्ति, लचक और हल्कापन होता है।

(i) निराशा-भरे विचारों वाला व्यक्ति, (ii) दूसरों के जीवन में त्रुटियाँ देखने वाला अथवा छिद्रान्वेषी व्यक्ति, (iii) हरेक चीज़ में कमी-कमज़ोरी देखकर अपने भाग्य को कोसते रहने वाला व्यक्ति, (iv) दूसरों के प्रति कटु दृष्टि रखने वाला व्यक्ति और (v) सदा रुष्ट एवं असन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति अपने ही स्वास्थ्य को स्वयं बिगाड़ता है। वो स्वास्थ्य रूपी चन्दन के पेड़ों को स्वयं ही जलाकर, उनका कोयला बना देता है। वह नकारात्मक विचार रूपी कांटे अपने तन-मन में लगाकर स्वयं ही दुःखी होता है और इस विधि अपने स्वास्थ्य को गँवा बैठता है। परन्तु सकारात्मक चिन्तन में वो प्रवृत्त हो सकता है जिसकी ये स्थिर मान्यता हो कि (i) मेरा कल्याण होने वाला है, (ii) मेरा हाथ प्रभु के हाथ में है; इसलिए कोई मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता है, (iii) मैं स्वयं ही अभी अपूर्ण हूँ, इसलिए दूसरे की अपूर्णता देखना गोया स्वयं को धूल-धूसरित करना है और (iv) कि जो होगा सो देखा जायेगा, मेरा कर्त्तव्य तो अच्छा करना है और (v) कि दूसरों की कमियों-कमज़ोरियों को न देखकर मुझे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है। इसलिए यह मानना होगा कि **ईश्वरीय ज्ञान की ठीक प्रकार की धारणा से ही मनुष्य में सकारात्मक विचार करने की कला आती है और सकारात्मक विचारों से सहज रीति स्वास्थ्य बनाये रखने की कला आती है।**

जो व्यक्ति प्रायः जल्दी उठकर शौच कार्य से निवृत्त हो जाते हैं और स्नान-ध्यान का अभ्यास करते हैं, उनका भी तन और मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। स्वस्थ तन और मन वाला व्यक्ति स्वस्थ तो होता ही है क्योंकि जहाँ स्वच्छता, पवित्रता, शुचिता और निर्मलता है वहाँ निश्चित रूप से स्वास्थ्य बनाये रखने में सफलता होती ही है। मल और विक्षेप भी स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाले होते हैं और जो व्यक्ति इन से मुक्त है वो स्वाभाविक तौर पर स्वस्थ होता ही है।

फिर ब्रह्मचर्य तो स्वास्थ्य का स्रोत ही है। (क) उससे अदम्य उत्साह होता है, (ख) शरीर में शक्ति का संचय भी होता है और (ग) वृद्धि भी होती है, (घ) मनुष्य का मनोबल बढ़ता है, (ङ) वो निर्भय बन जाता है और (च) स्वयं में स्वास्थ्य का एक झरना-सा महसूस करता है जो सतत् निरन्तर उसमें शक्ति का संचार करता रहता है। ब्रह्मचर्य व्रत का तो वही पूर्ण पालन कर सकता है (i) जो देह में अनासक्त हो, (ii) देह के आकर्षणों से मुक्त हो, (iii) देहाभिमान से ऊँचा उठ जाये और (iv) आत्म-स्वरूप में स्थित होकर स्वयं को अमृतपुत्र मानता हुआ, (v) प्रतिदिन ज्ञानामृत का सेवन करते हुए जीवन जीये। ब्रह्मचर्य से मनुष्य के जीवन में, शरीर में रोग-नाशक क्षमता (immunity) बढ़ती है और इसलिए वो रोगों के आक्रमण से बचा रहता है।

जिसे औरों की दुआयें मिलती हों, उसे भी स्वास्थ्य बनाये रखने में सहयोग मिलता है। लोगों की दुआओं का अपना एक प्रभामंडल होता है। उस प्रभामंडल से घिरा हुआ व्यक्ति रोगों के आक्रमणों से दुःखी नहीं होता बल्कि यदि रोग हो भी जायें तो वो उन्हें सहज रीति से झेल लेता है। दुआयें तो उसको ही मिलती हैं जो लोगों का भला करता है, उनके भले की बात सोचता है और भलाई करने में रात-दिन लगा रहता है। वो उनके मन को इतना जीत लेता है कि वे अपने अन्तर्मन से सूक्ष्म सहायता करते हैं और रोग-शमन शक्ति में अपनी शक्ति भी प्रदान करते हैं।

जितना कोई अधिक योग में रहता है उतना वो रोग से बचकर रहता है। स्वरूप में स्थित होना ही योग है और स्व में स्थित होने को ही 'स्वास्थ्य' कहा गया है। इसलिए स्व में स्थिति से स्वास्थ्य का लाभ होना स्वाभाविक है। योग से मनुष्य में कर्म की कुशलता आती है क्योंकि उसका शरीर स्वस्थ बना रहता है। योग के फलस्वरूप मनुष्य को 21 जन्मों तक 'कंचन-सम काया' प्राप्त होती है जिससे वो कमज़ोरी और बीमारी से ऊपर उठा रहता है।

जो व्यक्ति ईश्वरीय सेवा में लगा रहता है, उसे ईश्वरीय सहायता मिलती रहती है। उस सहायता से उसका स्वास्थ्य बने रहने की संभावना होती है। सेवा वाले व्यक्ति का शरीर अपने लिए न होकर, जनहित के लिए होता है और जनहित का कार्य करने वाले व्यक्ति को प्रभु अपना प्यार देते हैं और जिसे प्रभु का प्यार मिले, उस प्यार में स्वास्थ्य या रोग को झेलने की शक्ति समायी रहती है।

इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान, योग तथा सेवा इत्यादि से ही मनुष्य में स्वास्थ्य कला आती है। यहाँ तक कि उसके अपने शुभ संकल्प दूसरों के लिए भी स्वास्थ्यप्रद होते हैं।

अभी हमने जिन 16 कलाओं का उल्लेख किया है, वे कलायें प्रजापिता ब्रह्मा बाबा के जीवन में विशेष रूप से देखी जाती हैं। उनमें इन 16 कलाओं का विकास होते-होते वे स्वयं 'सोलह कला सम्पूर्ण' बन गये।

***